भगतसिंह की शहादत को आज याद करने की जरूरत क्यों है ?

किशोर भारती / 28 सितंबर 2013

भगतसिंह की शहादत को आज याद करने की जरूरत क्यों है?

किशोर भारती

भोपाल, मध्य प्रदेश

भगतसिंह की शहादत को आज याद करने की जरूरत क्यों है?

संकलन एवं संपादन
डॉ. अनिल सद्‌गोपाल

आवरण
कनक शशि, भोपाल

प्रकाशन एवं वितरण
किशोर भारती
ई–8 / 29, सहकार नगर,
भोपाल 462 039, मध्य प्रदेश
फ़ोन : (0755) 2560438
ईमेल : kishorebharati.bhopal@gmail.com

प्रथम संस्करण : 28 सितंबर 2013 (2,000 प्रतियां)

मुद्रण
आर. के. सिक्युप्रिंट प्रा. लि., भोपाल, फोनः (0755) 268 7589

15–सी, सेक्टर–जी, जे. के. रोड,
गोविंदपुरा, भोपाल, 462 022

सहयोग राशि
बीस रुपए मात्र

अनुक्रम

भूमिका

हमारे देश के समकालीन इतिहास में पिछले बीस साल चरम विरोधाभासों के साल रहे हैं। लगातार गहराता हुआ विरोधाभास जिसके एक सिरे पर देश की बहुसंख्यक मेहनतकश जनता है तो दूसरे सिरे पर गैर–बराबरी और शोषण की व्यवस्था पर टिकी देशी–विदेशी ताकतें। जहां एक तरफ तो जनता के श्रम और देश के संसाधनों की खुली लूट पर उछाल खाती विकास दर, शेयर बाजार और अरबपतियों की लिस्ट है तो दूसरी तरफ भुखमरी और खस्ताहाली से मौत के मुंह में धकेले जाते बच्चे, स्त्रियां, किसान और मेहनतकश आवाम की तमामतर कतारें। एक ऐसा विरोधाभास जो जनता के जुझारू संघर्षों के विरुद्ध राजसत्ता के दमन की बर्बर कार्रवाईयों से दिनोंदिन विस्फोटक होता जा रहा है।

ऐसा नहीं है कि यह परिस्थिति अचानक ही हमारे सामने आ गई है। सन् 1947 में अंग्रेजों के जाने के बाद जिस राजनीतिक–आर्थिक व्यवस्था के ढांचे को अपनाया गया, आज के हालात कहीं–न–कहीं उसी ढांचे की देन हैं। आजादी की लड़ाई के दौरान देश की मेहनतकश जनता ने सिर्फ राजनीतिक आजादी का ही नहीं, बल्कि आर्थिक और सामाजिक आजादी का लक्ष्य भी सामने रखा था ताकि भारत लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, बराबरी और न्याय पर आधारित एक प्रबुद्ध, वैज्ञानिक दृष्टि व मुक्तिकामी मानवीय चेतना से लैस, प्रगतिशील समाज की ओर उत्तरोत्तर विकसित हो सके। लेकिन पिछले छह दशकों में भारत की राजसत्ता ने इन जन–आकांक्षाओं को न सिर्फ अनदेखा किया बल्कि पिछले दो दशकों के दौरान, नवउदारवादी पतन के दौर में, इन्हें सिरे से ही बढ़ते क्रम में नकार रही है।

भगतसिंह और उनके साथियों ने इस परिस्थिति की चेतावनी आजादी के संघर्ष के दौरान ही दे दी थी। एक लंबे वैचारिक संघर्ष के बाद उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि आजादी का लक्ष्य तब तक अधूरा रहेगा जब तक गैर–बराबरी और शोषण की व्यवस्था कायम रहेगी, चाहे शोषण करने वाले अंग्रेज हों या खुद हिंदुस्तानी। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि देश की औपनिवेशिक गुलामी की जड़ में निजी पूंजी, मुनाफाखोरी और श्रम के लूट पर खड़ी पूंजीवादी व्यवस्था है और देश सही मायने में तभी आजाद होगा जब शोषण और दमन पर टिकी इस व्यवस्था को समूल नष्ट कर दिया जाएगा। इसीलिए सामाजिक क्रांति

के लिए जनता को संगठित कर लंबे राजनीतिक संघर्ष के कार्यभार को भगतसिंह ने जरूरी मानते हुए देश के युवाओं को इसके लिए आगे आने का आह्वान किया।

पूंजीवादी जन–विरोधी ताकतें लंबे समय से यह कोशिश करती रही हैं कि आम लोगों और खास तौर से युवाओं के बीच भगतसिंह और उनके साथियों को रोमांटिक क्रांतिकारी की छवि में सीमित कर दिया जाए। इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है। आज मुनाफाखोरी और श्रम की लूट पर ही जिनका राज कायम है वे सत्ताधारी ताकतें कभी नहीं चाहेंगी कि भगतसिंह और उसके साथियों के क्रांतिकारी विचार लोगों में फैलें। यह भी बिल्कुल स्वाभाविक है कि संकीर्ण विचारों, कट्टरता और सांप्रदायिक उन्माद के जरिए सत्ता हासिल करने वाली ताकतें भी भगतसिंह के विचारों को दबाना चाहेंगी। भगतसिंह और उनके साथियों के विचार इन ताकतों के लिए खतरनाक हैं क्योंकि उन विचारों से जनता हमारे दौर के विस्फोटक विरोधाभासों को हल करने का रास्ता निकाल सकती है।

ऐतिहासिक चेतना, राजनीतिक संघर्ष की पहली और अनिवार्य सीढ़ी है। खास तौर पर आज के दौर में, जबकि आजादी के संघर्ष में गढ़े गए तमाम जनपक्षधर विचारों और मूल्यों को खत्म किया जा रहा है और न सिर्फ हमें, बल्कि हमारी भाषाओं, स्मृतियों और सपनों को भी निजी मुनाफे की व्यवस्था के अनुरूप ढालने की खतरनाक कोशिशें हो रही हैं। ऐसे समय में भगतसिंह और उनके साथियों के विचार, सिर्फ हमारी ऐतिहासिक धरोहर ही नहीं बल्कि इस अमानवीय व्यवस्था के खिलाफ चल रही लड़ाई में जनता के लिए जरूरी हथियार भी हैं।

इसी जरूरत को ध्यान में रखते हुए यह पुस्तिका आप सबके सामने पेश की जा रही है। पुस्तिका के **खंड एक** में भगतसिंह की प्रेरणादायक जीवनी की कुछ झलकियां दी गई हैं जिसे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के प्रो. चमन लाल द्वारा संकलित एवं संपादित 'भगतसिंह के संपूर्ण दस्तावेज' (2004) की भूमिका से उद्धृत किया गया है।

खंड दो में भगतसिंह के लिखे हुए तीन आलेख यथा, 'कौम के नाम संदेश', 'अछूत का सवाल' और 'मैं नास्तिक क्यों हूं' शामिल किए गए हैं। पहले आलेख 'कौम के नाम संदेश' में भगतसिंह ने एक तरफ तत्कालीन परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हुए कांग्रेस के नेतृत्व में

किशोर भारती

चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन की सीमाओं को रेखांकित किया है, और दूसरी तरफ मजदूरों और किसानों सहित आम जनता के बीच मजबूत जनाधार विकसित करने के लिए क्रांतिकारी बदलाव की राजनीति को विकसित करने का एक खाका सामने रखते हुए इसके लिए खास तौर से युवाओं का आह्वान किया है। दूसरे आलेख 'अछूत का सवाल' आज दलितों के द्वारा अपने हकों के लिए लड़ी जा रही लड़ाई की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है। इसमें भगतसिंह ने दलितों का हजारों साल से हो रहे शोषण को भारतीय समाज में गहरी जड़ें पकड़ चुकी जाति व्यवस्था से जोड़ा है। इस आलेख का नजरिया आज की सांप्रदायिक राजनीति से भी जूझने के लिए एक वैचारिक आधार देता है। तीसरे आलेख 'मैं नास्तिक क्यों हूं' में भगतसिंह ने धर्म व ईश्वर संबंधी मान्यताओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से सवाल उठाए हैं। यह ध्यान देने की बात है की 1930 के दशक में, जबकि देश में सांप्रदायिक ताकतों का तेजी से उभार हो रहा था, भगतसिंह ने तर्क और वैज्ञानिक चिंतन को क्रांतिकारी चेतना और राजनीतिक कार्रवाई का जरूरी हिस्सा माना था।

खंड तीन में आजादी के आंदोलन के प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. बिपन चंद्र एवं भगतसिंह और उनके साथियों के दस्तावेजों के संकलनकर्ता प्रो. चमन लाल के आलेख शामिल किए गए हैं। इन दोनों आलेखों में भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद एवं उनके साथियों के क्रमवार वैचारिक विकास और उनके राजनीतिक कर्म की ऐतिहासिक नजरिए से व्याख्या की गई है। इन आलेखों में उस दौर के क्रांतिकारियों के प्रति जो रोमांटिक नजरिया बना था उसको खंडित करते हुए विचारधारा के विकास को उस दौर के ऐतिहासिक हालात एवं आजादी की लड़ाई लड़ रहे अन्य नेताओं के विचारों के संदर्भ से जोड़ा गया है। यह आलेख साफ दिखाते हैं कि **"बमों और बंदूकों से इंकलाब नहीं आता, बल्कि इंकलाब की तलवार विचारों की सान पर तेज होती है"**। प्रो. बिपन चंद्र ने क्रांतिकारी आंदोलन की चंदेक संभावनाओं एवं सीमाओं दोनों का जिक्र किया है लेकिन यह भी दिखाया है कि किस प्रकार राष्ट्रीय बुर्जुवा ताकतों के समर्थन से चल रही कांग्रेस पार्टी की लड़ाई क्रांतिकारियों के सामाजिक बदलाव और समाजवादी राज्य की स्थापना के आह्वान के संदेश को कुंद कर पाई और क्रांतिकारियों की छवि को महज देशभक्त की छवि में सीमित करने में सफल हुई। वहीं दूसरी ओर प्रो. चमन लाल अपने आलेख में ब्रिटिश शासनकाल की तमाम दमनात्मक कार्रवाइयों के बावजूद भगतसिंह व उनके साथियों की

विलक्षण राजनीति का बखूबी ब्यौरा देते हैं। इन दोनों आलेखों से हमें भारत के वर्तमान हालात से जूझने के लिए एक नई अंतर्दृष्टि मिल पाएगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

यह भी तय है कि भगतसिंह को किसी देश की सरहद में बांधना मुमकिन नहीं रहेगा। जैसे–जैसे दुनिया भर में नवउदारवादी पूंजी के हमले तेज हो रहे हैं वैसे–वैसे भगतसिंह के प्रतीक की जरूरत सरहदें लांघ रही है। पिछले साल लाहौर (पाकिस्तान) में भगतसिंह का जन्मदिवस पहली बार मनाया गया (देखिए, पृ. 19)। इसकी पहलकदमी पाकिस्तान के समाजवादी गुटों और प्रगतिशील बुद्धिजीवियों की ओर से हुई। लाहौर के शादमान चौक का नाम आधिकारिक तौर पर बदलकर भगतसिंह चौक करने का ऐलान भी हो गया, चूंकि ठीक इसी जगह 23 मार्च 1931 को भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी दी गई थी। लेकिन पाकिस्तान की मजहबी कट्टरवादी ताकतों को यह मंजूर नहीं था। अंततः नाम बदलने का फैसला पलटा गया। लेकिन जन्मदिवस मनाकर पाकिस्तान के लोगों ने साफ़ संदेश दिया कि भगतसिंह महज भारतीय राष्ट्रवाद के प्रतीक नहीं वरन् पूरे दक्षिण एशिया में क्रांतिकारी समाजवादी बदलाव के ऐतिहासिक प्रतीक हैं। संभवतः शादमान चौक का नाम बदलकर भगतसिंह चौक करने की लड़ाई तब तक चलती रहेगी जब तक दक्षिण एशिया के विभिन्न मुल्कों में समाजवादी पुनर्निर्माण की ओर बढ़ने के ठोस कदम उठाए नहीं जाते।

इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि इस समृद्ध ऐतिहासिक विरासत को विकसित कर संघर्ष को आमूलचूल बदलाव की मंजिल तक ले जाने का कार्यभार हमारी जिम्मेदारी है। शोषण और दमन पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था और साम्राज्यवादी दुष्चक्र आज कहीं ज्यादा विनाशकारी रूप में हमारे सामने चुनौती बनकर मौजूद हैं। ऐसे में भगतसिंह की क्रांतिकारी विरासत आज ऐतिहासिक तौर पर और भी ज्यादा सटीक हो गई है।■

भोपाल,
सितंबर 2013

खंड – एक

भगतसिंह के जीवन की कुछ झलकियां[1]

प्रो. चमन लाल

---

[1] स्रोत : 'भगतसिंह के संपूर्ण दस्तावेज', संपादक : चमन लाल, आधार प्रकाशन, प्रा. लि., पंचकूला (हरियाणा), दूसरा संस्करण 2005, पृ. 13–21. इस आलेख के शेष हिस्से के उद्धरणों का उपयोग खंड तीन में किया गया है।

एक युवक, जो साढ़े तेईस वर्ष की आयु में देश की स्वाधीनता के लिए क्रांतिकारी कार्रवाइयों के अपराध में फांसी चढ़ गया हो, वह युवक फांसी चढ़नेवाले सैंकड़ों अन्य युवकों से अलग या सम्मिलित रूप से उन सबका प्रतीक कैसे बन सकता है? लेकिन यदि वह युवक बारह वर्ष की आयु में ही जलियांवाला बाग की मिट्टी लेने पहुंच जाए और इस छोटी उम्र से ही लगातार सोचने–विचारने की प्रक्रिया में पड़ जाए तो वह युवक 1923 में सोलह वर्ष की आयु में ही घर छोड़ देता है और सत्रह साल की आयु में 'पंजाब की भाषा तथा लिपि की समस्या' पर एक प्रौढ़ चिंतक की तरह लेख लिखने लगता है और क्रांतिकारी गतिविधियों के साथ–साथ निरंतर अध्ययन, चिंतन और लेखन में भी लगा रहता है तो ऐसे युवक के क्रांतिकारी चिंतक का प्रतीक बनने की स्थितियां बन ही जाती हैं। यह युवक कोई और भी हो सकता था, लेकिन उन स्थितियों में यह संयोग भगतसिंह को प्राप्त हुआ और अपने सात वर्ष के अल्पकालिक तूफानी बाज़ जैसे क्रांतिकारी कार्यकर्ता, संगठनकर्ता, चिंतक और लेखक के रूप में भगतसिंह ने जो भूमिका निभाई और जिस शान व आन के साथ उसने 23 मार्च 1931 को शहादत के लिए फांसी का रस्सा गले में पहना, इसकी मिसाल भारत में ही नहीं, दुनिया में भी बहुत कम मिलती है। इसीलिए भगतसिंह न केवल भारतीय क्रांतिकारी चिंतन के प्रतीक बने हैं, बल्कि आनेवाले समय में वे विश्व की क्रांतिकारी परंपरा के महत्वपूर्ण नायक के रूप में भी अपना उचित स्थान प्राप्त करेंगे।

. . . वास्तव में 1857 से 1947 तक चले क्रांतिकारी आंदोलन में उपनिवेशवाद व सामंतवाद विरोधी स्पष्ट इंकलाबी आंदोलन दो ही थे – 1914 का 'गदर आंदोलन' व 1928–31 का भगतसिंह व चंद्रशेखर आजाद के नेतृत्व में 'हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातांत्रिक संघ' (हिसप्रस) आंदोलन। वैसे इस आंदोलन का आरंभ 1926 में भगतसिंह के ही नेतृत्व में पंजाब में 'नौजवान भारत सभा' के गठन से हो गया था, 1914 के 'गदर पार्टी' आंदोलन में अभी समाजवादी आंदोलन की दृष्टि शामिल नहीं हुई थी, क्योंकि रूस में ही 1917 में पहली सफल समाजवादी क्रांति संपन्न हुई थी। उसके बाद ही पूरी दुनिया में समाजवादी विचारों व संगठनों का जाल फैलना शुरू हुआ।

भगतसिंह का जीवनकाल पूरे विश्व व भारत में क्रांतिकारी उत्थान व उफान का काल था। 'गदर पार्टी' आंदोलन के समय उनकी आयु सात

वर्ष की, थी, सराभा की फांसी के समय साढ़े आठ वर्ष की, रूस की समाजवादी बोल्शेविक क्रांति के समय दस वर्ष की, जलियांवाला बाग कांड के समय बारह वर्ष की, चौरीचौरा कांड के समय पंद्रह वर्ष की। पिता किशनसिंह के कांग्रेस पार्टी के सक्रिय कार्यकर्त्ता होने पर भी 1922 में चौरीचौरा कांड के बाद भगतसिंह का पंद्रह वर्ष की अल्पायु में ही कांग्रेस व महात्मा गांधी से पूरी तरह मोहभंग हो गया था।

1924 में जब भगतसिंह ने लिखना शुरू किया, तो उनकी आयु सत्रह वर्ष की हो गई थी। 'पंजाब की भाषा तथा लिपि की समस्या' लेख भगतसिंह ने हिंदी में 1924 में लिखा। इसी लेख से भगतसिंह के सार्वजनिक जीवन का व बौद्धिक विमर्श का आरंभ माना जा सकता है। इस बीच भगतसिंह का राष्ट्रीय व क्रांतिकारी आंदोलन का बाकायदा अध्ययन शुरू हो चुका था। . . . [इसमें] सहायक भूमिका लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित द्वारकादास लायब्रेरी की भी थी, जिसके पुस्तकालय अध्यक्ष राजाराम शास्त्री स्वयं गहरे रूप से राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े हुए थे व खूब पढ़नेवाले भी थे। भगतसिंह से इनकी गहरी मित्रता स्थापित हो गई थी।

इन विचारों को परिपक्व व व्यावहारिक रूप देने के लिए भगतसिंह के प्रयत्नों से पंजाब के अलग–अलग शहरों में 'नौजवान भारत सभा' की शाखाएं स्थापित की गईं। . . . 'नौजवान भारत सभा' संगठन को स्थापित करने में भगतसिंह और भगवतीचरण वोहरा की प्रमुख भूमिका थी और इस जनसंगठन में कांग्रेस का वामपक्ष भी शामिल था। भगतसिंह की पहली गिरफ्तारी मई 1927 में हुई, जिसका संबंध अक्तूबर 1926 में दशहरा मेले में हुए बम विस्फोट से था। इस गिरफ्तारी का बड़ा उद्देश्य भगतसिंह को उसकी गतिविधियों से रोकना ही था। . . .

भगतसिंह अब अपने राजनीतिक चिंतन में परिपक्वता की ओर बढ़ रहे थे। वे अत्यंत अनुशासित व संगठनबद्ध व्यक्ति थे। 1925 के काकोरी बम कांड के बाद भारत का क्रांतिकारी संगठन 'हिंदुस्तानी प्रजातांत्रिक संघ' बिखरा हुआ था। कानपुर में रहते हुए 'प्रताप' में गणेशशंकर विद्यार्थी के साथ काम करते हुए भगतसिंह ने इस संगठन के बिखरे सूत्रों को संगठित करना शुरू किया। चंद्रशेखर आजाद के साथ व कुछ अन्य क्रांतिकारियों से उनका संपर्क बना। शिव वर्मा और जयदेव कपूर से भी वे मिले। लाहौर का उनका अपना नेशनल कालेज का गुट – सुखदेव, भगवतीचरण वोहरा, यशपाल आदि भी सक्रिय थे। . . . वे

विश्व के क्रांतिकारी चिंतन का अध्ययन कर रहे थे और धीरे–धीरे मार्क्सवाद की ओर बढ़ रहे थे, मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के लेखन और व्यक्तित्व ने उन पर जबरदस्त प्रभाव छोड़ा था और 8 व 9 सितंबर 1928 को दिल्ली के फ़िरोजशाह कोटला मैदान में चार प्रांतों के दस क्रांतिकारी कार्यकर्ता भारत के क्रांतिकारी आंदोलन को नई दिशा देने के लिए एकत्र हुए। . . . चंद्रशेखर आजाद सुरक्षा की दृष्टि से मीटिंग में नहीं आए किंतु मीटिंग में मुद्दों से उनकी पूर्व व पूर्ण सहमति प्राप्त कर ली गई थी, भगतसिंह ने ही इस महत्वपूर्ण सांगठनिक बैठक में नेतृत्वकारी भूमिका निभाई। . . . सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव था, दल द्वारा भारत में क्रांति के जरिए समाजवाद स्थापित करने का और इसीलिए 'हिंदुस्तान प्रजातांत्रिक संघ' का नाम बदलकर 'हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातांत्रिक संघ' (हिसप्रस) व इसके सशक्त अंग का नाम 'हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातांत्रिक सेना' रखा गया। सैनिक अंग के कमांडर इन चीफ चंद्रशेखर आजाद बनाए गए। . . .

. . . हिसप्रस की स्थापना के बाद पूरे देश में राजनीतिक गतिविधियों में इतनी तेजी आई कि इस छोटे से संगठन ने अपने बेहद सीमित साधनों से ऐसी क्रांतिकारी गतिविधियां कीं कि पूरा देश इन देशभक्त क्रांतिकारियों के कारनामों से दंग रह गया और उनकी गतिविधियों से भगतसिंह की लोकप्रियता कांग्रेस के इतिहासकार पट्टाभिसीतारमैया के शब्दों में महात्मा गांधी के बराबर जा पहुंची।

8–9 सितंबर 1928 को हिसप्रस की स्थापना के बाद 23 मार्च 1931 को सांय साढ़े सात बजे फांसी पर लटका दिए जाने तक भगतसिंह के जीवन का हर पल देश के लिए समर्पित रहा। इस अढ़ाई वर्ष के तूफानी जीवन में भगतसिंह ने इतना अधिक अध्ययन, मनन, चिंतन व लेखन किया, साथ ही इतना अधिक सांगठनिक कार्य किया व इसके साथ ही मुकदमे की कार्रवाई के दौरान ब्रिटिश उपनिवेशवाद का क्रांतिकारी ढंग से ऐसा सशक्त प्रतिरोध किया कि पूरी दुनिया में ऐसे बहुत कम उदाहरण मिलते हैं।

अक्तूबर 1928 में साईमन कमीशन के लाहौर पहुंचने पर लाला लाजपतराय के नेतृत्व में हजारों लोगों ने प्रदर्शन कर उसका विरोध किया। 'नौजवान भारत सभा' व 'लाहौर छात्र संघ' (पंजाब स्टूडेंट्स यूनियन का अंग) भी उस प्रतिरोध में सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। 30 अक्तूबर 1928 को लालाजी पर ब्रिटिश उपनिवेशवादी पुलिस ने जमकर

लाठियां बरसाईं, जिनकी शारीरिक व मानसिक चोट से लालाजी का 17 नवंबर 1928 को देहांत हो गया। पूरे देश में इसकी जबरर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। भगतसिंह व उनके साथियों के लाला लाजपतराय से तीखे राजनीतिक मतभेद थे, विशेषतः उनके हिंदूवादी रूझान से। किंतु इस हत्या को उन्होंने 'राष्ट्रीय अपमान' मानते हुए इसका बदला लेने का निर्णय किया और लाला लाजपतराय की हत्या के ठीक एक महीने बाद 17 दिसंबर 1928 को लाहौर के पुलिस मुख्यालय के सामने पुलिस सुपरिन्टेंडेंट जे. पी. सांडर्स को गोलियों से ढेर कर दिया। चेतावनी के बावजूद पीछा न छोड़ने पर भारतीय सिपाही चन्नण सिंह भी क्रांतिकारियों की गोली का शिकार हुआ और 18 दिसंबर 1928 की सुबह ही पूरे लाहौर में इश्तहार लगे पाए गए जिनमें लाला लालजपतराय की हत्या का बदला लिए जाने के हिसप्रस के दावे थे। उसके बाद भगतसिंह वेश बदलकर कैसे दुर्गा भाभी, शची व राजगुरु के साथ लाहौर से कलकत्ता पहुंचे व फिर कैसे 8 अप्रैल 1929 को दिल्ली की केंद्रीय असेंबली में 'पब्लिक सेफ्टी बिल' व 'ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल' के खिलाफ धमाके करने का निर्णय हुआ, जिसमें भगतसिंह व बटुकेश्वर दत्त को गिरफ्तारी देनी थी व बाद मे ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ जेल में रहकर अलग तरह का प्रतिरोध करना था, जिससे भगतसिंह के राजनीतिक चिंतक व क्रांतिकारी कार्यकर्ता के रूप में प्रौढ़तम रूप को उजागर होना था।

8 अप्रैल 1929 के दिन भगतसिंह व दत्त द्वारा केंद्रीय असेंबली में बम फेंककर बिना किसी को गंभीर रूप से घायल किए, धमाके का ब्रिटिश उपनिवेशवाद के कान खोलना, एक बहुत बड़ी क्रांतिकारी कार्रवाई थी, जिसके बाद भगतसिंह व दत्त ने स्वयं गिरफ्तारी दी। इसके बाद जीवन के अंतिम दो वर्षों में भगतसिंह ने अपने व्यक्तित्व का श्रेष्ठतम रूप उजागर किया। 1927 में अपनी पहली गिरफ्तारी के समय उनकी उम्र लगभग बीस वर्ष, 1928 में हिसप्रस की स्थापना के समय वे इक्कीस वर्ष के हो गए थे तथा बम फेंकते समय वे बाईस वर्ष से कुछ महीने कम उम्र के थे। जेल जीवन के इन दो वर्षों में भगतसिंह ने कानूनी लड़ाई लड़ने के साथ-साथ जो अध्ययन, मनन, चिंतन व लेखन किया, जिस तरह से भूख हड़ताल के जरिए जेल यंत्रणाओं का प्रतिरोध किया, जिस तरह से क्रांतिकारी आंदोलन को बचाए रखा व जिस तरह से स्वयं विचारधारात्मक स्पष्टता प्राप्त कर फांसी का रस्सा अपने खुद के चयन से गले पहना और जिस तरह से भारत की भावी क्रांति की दिशा निर्धारित करने में अपनी भूमिका निभाई, वह अपनी मिसाल आप है व

समूचे विश्व के क्रांतिकारी आंदोलनों के इतिहास में भगतसिंह का नाम चे ग्वेरा[2] की तरह ही एक महत्वपूर्ण नाम है।

. . . उनका एकमात्र लक्ष्य सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन द्वारा एक नई सामाजिक व्यवस्था के निर्माण की स्पष्ट जीवन दृष्टि ग्रहण करना था, बावजूद इस तथ्य के कि उन्हें अपने शीघ्र ही फांसी पर चढ़ने का पक्का पता था, अपने जीवन के अंत से पहले अपनी जीवन दृष्टि को वे अधिकाधिक दूरगामी, भविष्योन्मुखी व यथार्थपरक बनाना चाहते थे, जिसकी पृष्ठभूमि उनके अल्पकालीन जीवन के अत्यंत समृद्ध अनुभवों व उनके निरंतर अध्ययन ने पहले ही बना दी थी। ईश्वर में उनकी आस्था बहुत पहले समाप्त हो चुकी थी अर्थात् दार्शनिक स्तर पर वे भौतिकवाद को अपना चुके थे। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध उनका क्रांतिकारी संग्राम भले ही देशभक्ति की उत्कट भावना से प्रेरित हुआ हो, लेकिन वे इसे तार्किक अंत अर्थात एक विचारधारात्मक क्रांतिकारी विश्व दृष्टिकोण अपनाकर एक व्यावहारिक कार्यक्रम के साथ उसे जोड़कर पूरा करने की ओर ले जाना चाहते थे और इसमें निश्चय ही उन्हें मनचाही सफलता प्राप्त हुई।■

23 मार्च 1931 . . . भगतसिंह लेनिन की जीवनी पढ़ रहे थे, जब दरवाजा खुला। दहलीज़ पर अफसर खड़ा था।

'सरदारजी,' उसने कहा। "फांसी लगाने का हुक्म आ गया है। तैयार हो जाइए।"

भगतसिंह के दाएं हाथ में किताब थी, उससे नज़रें उठाए बिना ही उन्होंने बायां हाथ उठाकर कहा : "ठहरिए। यहां एक क्रांतिकारी दूसरे क्रांतिकारी से मिल रहा है।"

कुछ पंक्तियां और पढ़कर उन्होंने किताब एक तरफ रख दी और उठ खड़े हुए बोले : "चलिए!"

– वीरेंद्र सिंधु
'युगद्रष्टा भगतसिंह और उनके मृत्युंजय पुरखे'

---

[2] लातीनी अमरिका के विश्वविख्यात क्रांतिकारी।

खंड – दो

भगतसिंह के तीन आलेख

1. कौम के नाम संदेश
2. अछूत का सवाल
3. मैं नास्तिक क्यों हूं ?

कौम के नाम संदेश[3]

शहीद भगतसिंह द्वारा 02 फरवरी 1931 को जेल से लिखे इस आलेख को 82 साल बाद फिर से छापने की जरूरत क्यों महसूस हुई? इस बीच देश ब्रिटिश हुकूमत से आजाद भी हुआ और आजादी के 66 साल भी गुजर चुके हैं। तो क्या हम यह मान लें कि भगतसिंह का आजाद भारत का सपना पूरा हो गया और अब जेल से लिखे उनके इतने पुराने आलेख को पढ़कर आखिर क्या हासिल होगा? दरअसल, भगतसिंह और उनके साथियों ने जो लड़ाई लड़ी वह सिर्फ अंग्रेजों को भगाने की कतई नहीं थी वरन् उसके साथ–साथ देश को पूंजीवादी शोषण और साम्राज्यवादी लूट से मुक्त कराकर समाजवादी व्यवस्था कायम करने की भी थी। यही फर्क था उनकी लड़ाई और कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व में लड़ी जा रही आजादी की लड़ाई के बीच। मोटे तौर पर कांग्रेस की लड़ाई का फोकस अंग्रेजों से सत्ता छीनकर अपने हाथ में लेना था। इस सत्ता–परिवर्तन में शोषण–मुक्त भारत बनाने के लिए आर्थिक व सामाजिक बदलाव का मुद्दा हाशिए पर चला गया।

अंग्रेज तो चले गए लेकिन आजाद भारत का पूंजीपति शासक वर्ग उसी तरह से जनता के श्रम व संसाधनों को लूटता रहा है जैसे ब्रिटिश पूंजीपति शासक वर्ग लूट रहा था। गरीबी, गैर–बराबरी, बेरोजगारी, भुखमरी, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव आदि समस्याएं आज भी जस–की–तस बनी हुई हैं। आर्थिक विकास का लाभ अभिजात और मध्यम वर्ग में सिमट गया है।

वैश्वीकरण के बाद के 20 सालों में तो हालात बद–से–बदतर हो गए। एक ओर 9 फीसदी की आर्थिक वृद्धि दर को छूता

---

[3] स्रोत : 'शहीदों के लिए', राष्ट्रीय जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा द्वारा प्रकाशित, निशांत नाट्य मंच, दिल्ली एवं अन्य द्वारा वितरित, 1980 के दशक का पूर्वाद्ध, पृ. 5–9. दरअसल, यह आलेख जेल से बाहर भेजे जाने पर विभिन्न अखबारों में कांट–छांटकर छपा था। इसे 'क्रांतिकारी कार्यक्रम का मसौदा' नामक विस्तृत आलेख का हिस्सा माना जा सकता है जो प्रो. चमन लाल द्वारा संपादित 'भगतसिंह के संपूर्ण दस्तावेज', दूसरा संस्करण, आधार प्रकाशन, 2005, पृ. 271–288, में उपलब्ध है।

सुपरमॉल–मल्टीप्लैक्सवाला चमकता–दमकता भारत और दूसरी ओर 78 फीसदी जनता जो महज 20 रुपए प्रतिदिन पर गुजर–बसर करने को मजबूर है (अर्जुन सेनगुप्ता आयोग रपट, 2007)। पिछले चंदेक सालों में तो भारत की पहचान अरबों–खरबों रुपयों के घोटालों और दो लाख किसानों की आत्महत्याएं वाले देश की हो गई है। वैश्विक पूंजीवाद भारत के शासक वर्ग के कंधों पर सवार होकर जल–जंगल–जमीन, जीविका और ज्ञान (शिक्षा) को मुनाफाखोरी व लूट का जरिया बना चुका है।

भगतसिंह द्वारा दिया गया, 'कौम के नाम संदेश' दिखाता है कि उन्हें 82 साल पहले देश में होनेवाली इस बदहाली का स्पष्ट पूर्वानुमान था। यह पूर्वानुमान पूंजीवाद के शोषणात्मक चरित्र के अध्ययन पर आधारित था। इसलिए उन्होंने कहा, **"लार्ड रीडिंग या इर्विन की जगह तेजबहादुर या पुरषोत्तम दास, ठाकुर दास के आने से कोई भारी फर्क न पड़ सकेगा।** युवाओं को ललकारता यह संदेश उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ चल रही लड़ाई को समाजवादी भारत के निर्माण की लड़ाई से जोड़ने की प्रेरणा देता है। यही कारण है कि आज के युवा इस आलेख को बार–बार पढ़ें, गुनें और उसके अनुसार आवाम को नई दिशा दें। तभी तो भारत को मिली आजादी सच्ची आजादी होगी। भगतसिंह की शहादत का यही तकाजा है कि सन् 1931 से छूटा हुआ उनका अधूरा काम आज की युवा पीढ़ी पूरा करे। इसलिए यह आलेख नई उम्मीदों और ताजे विश्वास के साथ पेश है।

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है,
देखना है ज़ोर कितना बाजु–ए–कातिल में है।

है लिए हथियार दुश्मन ताक में बैठा उधर,
और हम तैय्यार हैं सीना लिए अपना इधर
खून से खेलेंगे होली गर वतन मुश्किल में है।

सरफ़रोशी की . . . .

– रामप्रसाद बिस्मिल

इस समय हमारा आंदोलन अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों में से गुजर रहा है। एक साल के कठोर संग्राम के बाद गोलमेज कांफ्रेंस ने हमारे सामने शासन विधान में परिवर्तन के संबंध में कुछ निश्चित बातें पेश की हैं और कांग्रेस के नेताओं को निमंत्रण दिया है कि वे आकर शासन–विधान तैयार करने के कामों में मदद दें। कांग्रेस के नेता इस हालत में आंदोलन को स्थगित कर देने के लिए तैयार दिखाई देते हैं। वे लोग आंदोलन स्थगित करने के हक में फैसला करेंगे या खिलाफ, यह बात हमारे लिए बहुत महत्त्व नहीं रखती। यह बात निश्चित है कि वर्तमान आंदोलन का अंत किसी–न–किसी प्रकार के समझौते के रूप में होना लाज़िमी है। यह दूसरी बात है कि समझौता जल्दी हो जाए या देर से हो।

वस्तुतः समझौता कोई ऐसी हेय और निंदा योग्य वस्तु नहीं, जैसा कि साधारणतः हम लोग समझते हैं, बल्कि समझौता राजनीतिक संग्रामों का एक अत्यावश्यक अंग है। कोई भी कौम, जो किसी अत्याचारी शासन के विरुद्ध खड़ी होती है, जरूरी है कि वह प्रारंभ में असफल हो और अपनी लंबी जद्दोजहद के मध्यकाल में इस प्रकार के समझौते के जरिए कुछ राजनीतिक सुधार हासिल करती जाए, परंतु वह अपनी लड़ाई की आखिरी मंजिल तक पहुंचते–पहुंचते अपनी ताकतों को इतना संगठित और दृढ़ कर लेती है और उसका दुश्मन पर आखिरी हमला ऐसा जोरदार होता है कि शासक लोगों की ताकतें उस वक्त तक भी यह चाहती हैं कि उसे दुश्मन के साथ कोई समझौता कर लेना पड़े। यह बात रूस के उदाहरण से भली–भांति स्पष्ट की जा सकती है।

1905 में रूस में क्रांति की लहर उठी। क्रांतिकारी नेताओं को बड़ी भारी आशाएं थीं, लेनिन उसी समय विदेश से लौट कर आए थे। वह सारे आंदोलन को चला रहे थे। लोगों ने कोई दर्जनभर भूमिपतियों को मार डाला और कुछ मकानों को जला डाला, परंतु वह क्रांति सफल न हुई। उसका इतना परिणाम अवश्य हुआ कि सरकार कुछ सुधार करने के लिए बाध्य हुई और 'ड्यूमा' (रूस की संसद) की रचना की गई। उस समय लेनिन ने 'ड्यूमा' में जाने का समर्थन किया, परंतु 1906 में उन्होंने उसी का विरोध शुरू कर दिया और 1907 में उन्होंने दूसरी 'ड्यूमा' में जाने का समर्थन किया, जिसके अधिकार बहुत कम कर दिए गए थे। इसका कारण था कि वह 'ड्यूमा' को अपने आंदोलन का एक मंच (प्लेटफार्म) बनाना चाहते थे।

इसीप्रकार 1917 के बाद जब जर्मनी के साथ रूस की संधि का प्रश्न चला, तो लेनिन के अलावा बाकी सभी लोग उस संधि के खिलाफ थे, परंतु लेनिन ने कहा, शांति–शांति और फिर शांति – किसी भी कीमत पर हो, शांति। यहां तक कि यदि हमें रूस के कुछ प्रांत भी जर्मनी के 'वॉरलार्ड' को सौंपने पड़ें, तो भी शांति प्राप्त कर लेनी चाहिए। जब कुछ बोल्शेविक नेताओं ने भी उनकी इस नीति का विरोध किया, तो उन्होंने साफ कहा कि इस समय बोल्शेविक सरकार को मजबूत करना है।

जिस बात को मैं बताना चाहता हूं वह यह है कि समझौता भी एक ऐसा हथियार है, जिसे राजनीतिक जद्दोजहद के बीच पग–पग पर इस्तेमाल करना आवश्यक हो जाता है, जिससे एक कठिन लड़ाई से थकी हुई कौम को थोड़ी देर के लिए आराम मिले और वह आगे के युद्ध के लिए अधिक ताकत के साथ तैयार हो सके। परंतु इन सारे समझौतों के बावजूद जिस चीज को हमें भूलना नहीं चाहिए, वह हमारा आदर्श है, जो हमेशा हमारे सामने रहना चाहिए। **जिस लक्ष्य के लिए हम लड़ रहे हैं, उसके संबंध में हमारे विचार बिलकुल स्पष्ट और दृढ़ होने चाहिए। यदि आप सोलह आने के लिए लड़ रहे हैं और एक आना मिल जाता है, तो वह एक आना जेब में डालकर बाकी पंद्रह आने के लिए फिर जंग छेड़ दीजिए। हिंदुस्तान के मॉडरेटों (नरम दल के लोगों) की जिस बात से हमें नफरत है वह यही है कि उनका आदर्श कुछ नहीं है। वे एक आने के लिए ही लड़ते हैं और उन्हें मिलता भी कुछ नहीं।**

भारत की वर्तमान लड़ाई ज्यादातर मध्य श्रेणी के लोगों के बलबूते पर लड़ी जा रही है, जिसका लक्ष्य बहुत सीमित है। कांग्रेस दुकानदारों और पूंजीपतियों के जरिए इंग्लैंड पर आर्थिक दबाव डालकर कुछ अधिकार ले लेना चाहती है परंतु जहां तक देश के करोड़ों मजदूर और किसान जनता का ताल्लुक है, उनका उद्धार इतने से नहीं हो सकता। **यदि देश की लड़ाई लड़नी है, तो मजदूरों, किसानों और सामान्य जनता को आगे लाना होगा, उन्हें लड़ाई के लिए संगठित करना होगा। नेता उन्हें अभी तक आगे लाने के लिए कुछ नहीं करते, न ही कर सकते हैं।** इन किसानों को विदेशी हुकुमत के जुए के साथ–साथ भूमिपतियों और पूंजीपतियों के जुए से भी उद्धार पाना है, परंतु कांग्रेस का उद्देश्य यह नहीं है।

इसलिए मैं कहता हूं कि कांग्रेस के लोग संपूर्ण क्रांति नहीं चाहते। सरकार पर आर्थिक दबाव डालकर वे कुछ सुधार और लेना चाहते हैं। भारत के धनी वर्ग के लिए कुछ रियायतें और चाहते हैं और इसलिए मैं यह भी कहता हूं कि कांग्रेस का आंदोलन किसी–न–किसी समझौते या असफलता में खत्म हो जाएगा।

इस हालत में नौजवानों को समझ लेना चाहिए कि उनके लिए वक्त और भी सख्त आ रहा है। उन्हें सावधान हो जाना चाहिए कि कहीं उनकी बुद्धि चकरा न जाए या वे हताश न हो बैठें। महात्मा गांधी की दो लड़ाइयों का अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद वर्तमान परिस्थितियों और अपने भविष्य के प्रोग्राम के संबंध में साफ–साफ नीति निर्धारित करना हमारे लिए अब ज्यादा जरूरी हो गया है।

इतना विचार कर चुकने के बाद मैं अपनी बात अत्यंत सादे शब्दों में कहना चाहता हूं। आप लोग **इंकलाब जिंदाबाद** की पुकार करते हैं। यह नारा हमारे लिए बहुत पवित्र है और इसका इस्तेमाल हमें बहुत ही सोच–समझकर करना चाहिए।

जब आप नारे लगाते हैं, तो मैं समझता हूं कि आप लोग वस्तुतः जो पुकारते हैं वही करना भी चाहते हैं। असेंबली बम केस के समय हमने क्रांति शब्द की यह व्याख्या की थी – क्रांति से हमारा अभिप्राय समाज की वर्तमान प्रणाली और वर्तमान संगठन को पूरी तरह उखाड़ फेंकना है। इस उद्देश्य के लिए हम पहले सरकार की ताकत को अपने हाथ में लेना चाहते हैं। इस समय शासन की मशीन धनवानों के हाथों में है। सामान्य जनता के हितों की रक्षा के लिए तथा अपने आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने के लिए – अर्थात् समाज का नए सिरे से संगठन कार्ल मार्क्स के सिद्धांतों के अनुसार करने के लिए – हम सरकार की मशीन को अपने हाथ में लेना चाहते हैं। हम उस उद्देश्य के लिए लड़ रहे हैं, परंतु इसके लिए साधारण जनता को शिक्षित करना चाहिए।

जिन लोगों के सामने इस महान क्रांति का लक्ष्य है, उनके लिए नए शासन–सुधारों की कसौटी क्या होनी चाहिए? हमारे लिए निम्नलिखित तीन बातों पर ध्यान रखना किसी भी शासन–विधान की परख के लिए जरूरी है –

1. शासन की जिम्मेदारी कहां तक भारतवासियों को सौंपी जाती है?

2. शासन–विधान को चलाने के लिए किस प्रकार की सरकार बनाई जाती है और उसमें हिस्सा लेने का आम जनता को कहां तक मौका मिलता है?
3. भविष्य में उससे क्या आशाएं की जा सकती हैं? शासन–विधान पर कहां तक प्रतिबंध लगाए जाते हैं? सर्वसाधारण को वोट देने का हक दिया जाता है या नहीं?

भारत की पार्लियामेंट का क्या स्वरूप हो, यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। भारत सरकार की कौंसिल ऑफ स्टेट्स सिर्फ धनवानों का जमघट है और लोगों को फांसने का एक पिंजरा है, इसलिए उसे हटाकर एक ही सभा, जिसमें जनता के प्रतिनिधि हों, रखनी चाहिए।

प्रांतीय स्वराज्य का जो निश्चय गोलमेज कांफ्रेस में हुआ है, उसके संबंध में मेरी राय है कि जिस प्रकार के लोगों को वहां सारी ताकतें दी जा रही हैं, उससे तो यह 'प्रांतीय स्वराज्य' न होकर 'प्रांतीय जुल्म' हो जाएगा।

इन सब अवस्थाओं पर विचार करके हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि सबसे पहले हमें सारी अवस्थाओं का चित्र साफ तौर पर अपने सामने अंकित कर लेना चाहिए। यद्यपि हम यह मानते हैं कि समझौते का अर्थ कभी भी आत्मसमर्पण या पराजय स्वीकार करना नहीं, किंतु एक कदम आगे बढ़ना और फिर कुछ आराम करना है। साथ ही हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि समझौता इससे अधिक और कुछ भी नहीं है। वह अंतिम लक्ष्य और हमारे लिए अंतिम विश्राम का स्थान नहीं।

हमारे दल का लक्ष्य क्या है और उसके साधन क्या हैं, यह भी विचारणीय है। दल का नाम 'सोशलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी' है और इसलिए इसका लक्ष्य एक सोशलिस्ट समाज की स्थापना है। कांग्रेस और इस दल के लक्ष्य में यही भेद है कि राजनीतिक क्रांति से शासन–शक्ति अंग्रेजों के हाथ से निकलकर हिंदुस्तानियों के हाथों में आ जाएगी। हमारा लक्ष्य शासन–शक्ति को उन हाथों के सुपुर्द करना है, जिनका लक्ष्य समाजवाद हो। इसके लिए मजदूरों और किसानों को संगठित करना आवश्यक होगा क्योंकि उन लोगों के लिए **लार्ड रीडिंग या इर्विन की जगह तेजबहादुर या पुरुषोत्तम दास, ठाकुर दास के आ जाने से कोई भारी फर्क न पड़ सकेगा।**

पूर्ण स्वाधीनता से भी इस दल का यही अभिप्राय है। जब लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया, तो हम लोग पूरे दिल से इसे चाहते थे, परंतु कांग्रेस के उसी अधिवेशन में महात्मा जी ने कहा कि, "समझौते का दरवाजा अब भी खुला है।" इसका अर्थ यह था कि वह पहले ही जानते थे कि उनकी लड़ाई का अंत इसी प्रकार के किसी समझौते में होगा और वे पूरे दिल से स्वाधीनता की घोषणा नहीं कर रहे थे। हम लोग इस बेदिली से घृणा करते हैं।

इस उद्देश्य के लिए नौजवानों को कार्यकर्ता बनकर मैदान में निकलना चाहिए, नेता बनने वाले तो पहले ही बहुत हैं। हमारे दल को नेताओं की आवश्यकता नहीं। अगर आप दुनियादार हैं और बाल-बच्चे और गृहस्थी में फंसे हैं, तो हमारे मार्ग पर मत आइए। आप हमारे उद्देश्य में सहानुभूति रखते हैं, तो अन्य तरीकों से हमें सहायता दीजिए। सख्त नियंत्रण में रह सकने वाले कार्यकर्ता ही इस आंदोलन को आगे ले जा सकते हैं। जरूरी नहीं कि दल इस उद्देश्य के लिए छिपकर ही काम करे। हमें युवकों के लिए स्वाध्याय-मंडल (स्टडी सर्किल) खोलने चाहिए, पैम्फलेटों और लीफलेटों, छोटी पुस्तकों, छोटे-छोटे पुस्तकालयों और लेक्चरों, बातचीत आदि से हमें अपने विचारों का सर्वत्र प्रचार करना चाहिए।

हमारे देश का सैनिक विभाग भी संगठित होना चाहिए। कभी-कभी उसकी बड़ी जरूरत पड़ जाती है। इस संबंध में मैं अपनी स्थिति बिलकुल साफ कर देना चाहता हूं। मैं जो कुछ कहना चाहता हूं, उसमें गलतफहमी की संभावना है, पर आप लोग मेरे शब्दों और वाक्यों का कोई गूढ़ अभिप्राय न गढ़ें।

यह बात प्रसिद्ध ही है कि मैं आतंककारी (टेररिस्ट) रहा हूं, परंतु मैं आंतककारी नहीं हूं। मैं एक क्रांतिकारी हूं, जिसके कुछ निश्चित विचार और निश्चित आदर्श हैं और जिसके सामने एक लंबा प्रोग्राम है। मुझे यह दोष दिया जाएगा, जैसा कि लोग रामप्रसाद बिस्मिल को भी देते थे कि फांसी की कालकोठरी में पड़े रहने से मेरे विचारों में भी कोई परिवर्तन आ गया है, परंतु ऐसी बात नहीं। मेरे विचार अब भी वही हैं। मेरे हृदय में अब भी उतना ही और वैसा ही उत्साह है और वही लक्ष्य है, जो जेल से बाहर था। पर मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हम बम से कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। यह बात हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी के इतिहास से आसानी से मालूम हो जाती है। केवल

बम फेंकना न सिर्फ व्यर्थ है, परंतु बहुत बार हानिकारक भी है। उसकी आवश्यकता किन्हीं खास अवस्थाओं में ही पड़ा करती है। **हमारा मुख्य लक्ष्य मजदूरों और किसानों का संगठन होना चाहिए**। सैनिक विभाग युद्ध–सामग्री को किसी खास मौके के लिए केवल संग्रह करता रहे।

यदि हमारे नौजवान इसी प्रकार प्रयत्न करते जाएंगे, तब जाकर एक साल में स्वराज्य तो नहीं, किंतु भारी कुर्बानी और त्याग की कठिन परीक्षा में से गुजरने के बाद वे अवश्य विजयी होंगे। इंकलाब जिंदाबाद।■

28 सितंबर 2012. भारत और पाकिस्तान के कई सामाजिक आंदोलनों और मजदूर संगठनों ने मिलकर शहीद–ए–आज़म भगतसिंह का जन्मदिन लाहौर के शादमान चौक पर मनाने का फैसला लिया। यह वहीं चौक है जहां 23 मार्च 1931 को उनकी शहादत हुई थी। गौरतलब है कि लेबर पार्टी, पाकिस्तान की पहलकदमी के चलते लाहौर के जिला संयोजक अधिकारी के आदेश पर शादमान चौक का नाम बदलकर भगतसिंह चौक घोषित कर दिया गया। जनमदिन तो मनाया गया लेकिन धार्मिक कट्टरवादी ताकतों के दबाव में चौक के नाम में बदलाव को लेकर कशमकश जारी है।

भगतसिंह की साम्राज्यवाद–विरोधी समाजवादी क्रांति की लड़ाई को किसी एक प्रांत, देश या धर्म के दायरे में बांधना नामुमकिन है। इसी तरह उनको महज भारत–पाकिस्तान की दोस्ती, भारतीय राष्ट्रवाद या सिक्ख राष्ट्रवाद के प्रतीक के रूप में भी देखा नहीं जा सकता। उन्होंने अविभाजित भारत में शोषित मेहनतकश आवाम को सामंतवादी जातिवादी व्यवस्था, अभिजात शासकवर्ग व ब्रिटिश राज से मुक्ति दिलाने और समाजवाद का निर्माण करने के संघर्ष की अगुवाई की थी। बेशक, उनकी शहादत पूरी दक्षिण एशियाई उप–महाद्वीप व अन्य सभी मुल्कों के लिए थी, न कि किसी एक मुल्क के लिए।

आज नवउदारवादी नीतियों के जरिए वैश्विक पूंजीवाद पूरी दुनिया को अपने मकड़जाल में फंसाए रखना चाहता है। भगतसिंह ने जेल में तत्कालीन भारत और अन्य देशों में आर्थिक–सामाजिक गैरबराबरी का विस्तृत अध्ययन किया जो उनकी जेल डायरी में दर्ज है। इसलिए वैश्विक पूंजीवाद के खिलाफ संघर्ष में राष्ट्रीय सीमाओं को पार करके मेहनतकश आवाम और उनके संगठनों के बीच एकता कायम करना समय का तकाजा है। इसलिए भगतसिंह का नाम चे ग्वेरा के साथ साम्राज्यवादी–विरोधी चेतना का वैश्विक प्रतीक बनता जा रहा है।

– राष्ट्रीय वनजन श्रमजीवी मंच, उत्तर प्रदेश की रिपोर्ट पर आधारित

अछूत का सवाल[4]

सन् 1928 में महज 21 साल की उम्र में भगतसिंह ने इस आलेख में अछूतों[5] के सवाल को हिंदू समाज की जाति व्यवस्था में गैर–बराबरी और भेदभाव की गहरी जड़ों से जोड़कर समझा है। साथ में जिस तरह हजारों साल से जन्म के आधार पर एक बड़े तबके को मानवीय प्रतिष्ठा से वंचित किया गया है उसे उन्होंने सामंती उत्पादन व्यवस्था का हिस्सा माना है। पुनर्जन्म जैसे धार्मिक विचार की शुरूआत भी इसी उत्पादन व्यवस्था में अछूतों के विद्रोह की संभावना को दबाने के लिए कैसे की गई, भगतसिंह का यह विश्लेषण न केवल अनूठा है बल्कि वैज्ञानिक दृष्टि पर भी टिका हुआ है।

जब यह आलेख लिखा जा रहा था उस दौर में विभिन्न मजहब अपनी–अपनी ताकत बढ़ाने के लिए अछूतों को अपने में शामिल करने की राजनीति करने में लगे हुए थे, उससे सांप्रदायिकता को कैसे बढ़ावा मिला इस ओर भगतसिंह ने बखूबी ध्यान दिलाया है। वे यहीं नहीं रुके। उन्होंने अछूत–समस्या को आर्थिक सवालों से जोड़ा और जमीन, मजदूरी और शिक्षा में समानता के मुद्दों को भी उठाया। ये वही मुद्दे हैं जिन्हें डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने भी उठाया और आगे चलकर विस्तार दिया। इस पूरे मसले पर भगतसिंह अछूतों को यह आह्वान देते हैं कि उच्च वर्गों व ऊंची जातियों के द्वारा किसी उपकार की इंतजार मत करो लेकिन संगठित होओ और इस सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ राजनीतिक और आर्थिक क्रांति की लड़ाई छेड़ दो। यह वही संदेश है जो डॉ. आंबेडकर ने "संगठित होओ, शिक्षित बनो और संघर्ष करो" के जरिए दिया। भगतसिंह और डॉ. आंबेडकर का अछूतों को दिया गया यह आह्वान समाजवादी बदलाव की लड़ाई के साथ ही परवान चढ़ता है, अन्यथा अधूरा है।

---

[4] स्रोत : 'भगतसिंह और उनके साथियों के संपूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़,' संपादक : सत्यम, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, 2008, पृ. 266–270 ।

[5] जिन्हें कालांतर में संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया और आज विकसित राजनीतिक चेतना के चलते दलित कहा जाता है।

भगतसिंह के इस आलेख के मद्देनज़र हम यह आग्रहपूर्वक कहना चाहेंगे कि उनकी विचारधारा किसी भी मजहबी कट्टरवाद और संकीर्ण–राष्ट्रवाद का हिस्सा कतई नहीं बन सकती। हर मायने में उनकी विचारधारा इंसानियत की बुनियाद पर टिकी हुई है।

भगतसिंह **सुखदेव** **राजगुरु**

[काकीनाडा मे 1923 में कांग्रेस अधिवेशन हुआ। मुहम्मद अली जिन्ना ने अपन अध्यक्षीय भाषण में आजकल की अनुसूचित जातियों को, जिन्हें उन दिनों 'अछूत' कहा जाता था, हिंदू और मुस्लिम मिशनरी संस्थाओं में बांट देने का सुझाव दिया। हिंदू और मुस्लिम अमीर लोग इस वर्गभेद को पक्का करने के लिए धन देने को तैयार थे।

उसी समय जब इस मसले पर बहस का वातावरण था, भगतसिंह ने 'अछूत का सवाल' नामक लेख लिखा। इस लेख में श्रमिक वर्ग की शक्ति व सीमाओं का अनुमान लगाकर उसकी प्रगति के लिए ठोस सुझाव दिए गए हैं। भगतसिंह का यह लेख जून 1928 के 'किरती' में 'विद्रोही' के नाम से प्रकाशित हुआ था। – सं. सत्यम]

हमारे देश जैसे बुरे हालात किसी दूसरे देश के नहीं हुए। यहां अजब–अजब सवाल उठते रहते हैं। एक अहम सवाल अछूत–समस्या है। समस्या यह है कि 30 करोड़ की जनसंख्या वाले देश में जो 6 करोड़ लोग अछूत कहलाते हैं, उनके स्पर्श–मात्र से धर्म भ्रष्ट हो जाएगा! उनके मंदिरों में प्रवेश से देवगण नाराज हो उठेंगे! उनके द्वारा कुएं से पानी निकालने से कुआं अपवित्र हो जाएगा! ये सवाल बीसवीं सदी में किए जा रहे हैं, जिन्हें कि सुनते ही शर्म आती है।

हमारा देश बहुत अध्यात्मवादी है, लेकिन हम मनुष्य को मनुष्य का दर्जा देते हुए भी झिझकते हैं जबकि पूर्णतया भौतिकवादी कहलानेवाला यूरोप कई सदियों से इंकलाब की आवाज उठा रहा है। उन्होंने अमेरिका और फ्रांस की क्रांतियों के दौरान ही समानता की घोषणा कर दी थी। आज रूस ने हर प्रकार का भेदभाव मिटाकर क्रांति के लिए कमर कसी हुई है। हम सदा ही आत्मा–परमात्मा के वजूद को लेकर चिंतित होने तथा इस जोरदार बहस में उलझे हुए हैं कि क्या अछूत को जनेऊ दे दिया जाएगा? वे वेद–शास्त्र पढ़ने के अधिकारी हैं अथवा नहीं? हम उलाहना देते हैं कि हमारे साथ विदेशों में अच्छा सलूक नहीं होता। अंग्रेजी शासन हमें अंग्रेजों के समान नहीं समझता। लेकिन क्या हमें यह शिकायत करने का अधिकार है?

सिंध के एक मुस्लिम सज्जन श्री नूर मुहम्मद ने, जो बम्बई कौंसिल के सदस्य हैं, इस विषय पर 1926 में खूब कहा - "If the Hindu society refuses to allow other human beings, fellow creatures so that to attend public schools, and if . . . the president of local board representing so many lakhs of people in this house refuses to allow his fellows and brothers the elementary human right of having water to drink, what right have they to ask for more rights from the bureaucracy? Before we accuse people coming from other lands, we should see how we ourselves behave toward our own people . . . How can we ask for greater political rights when we ourselves deny elementary rights to human beings."

वे कहते हैं कि जब तुम एक इंसान को पीने के लिए पानी देने से भी इंकार करते हो, जब तुम उन्हें स्कूल में भी पढ़ने नहीं देते तो तुम्हें क्या अधिकार है कि अपने लिए अधिक अधिकारों की मांग करो? जब तुम एक इंसान को समान अधिकार देने से भी इंकार करते हो तो तुम अधिक राजनीतिक अधिकार मांगने के अधिकारी कैसे बन गए?

बात बिल्कुल खरी है। लेकिन यह क्योंकि एक मुस्लिम ने कही है इसलिए हिंदू कहेंगे कि देखो, वह उन अछूतों को मुसलमान बनाकर अपने में शामिल करना चाहते हैं!

जब तुम उन्हें इस तरह पशुओं से भी गया–बीता समझोगे तो वे जरूर ही दूसरे धर्मों में शामिल हो जाएंगे, जिनमें उन्हें अधिक अधिकार मिलेंगे, जहां उनसे इंसानों जैसा व्यवहार किया जाएगा। फिर यह कहना कि देखो जी, ईसाई और मुसलमान हिंदू कौम को नुकसान पहुंचा रहे हैं, व्यर्थ होगा।

कितना स्पष्ट कथन है, लेकिन यह सुनकर सभी तिलमिला उठते हैं। ठीक इसी तरह की चिंता हिंदुओं को भी हुई। सनातनी पंडित भी कुछ–न–कुछ इस मसले पर सोचने लगे हैं। बीच–बीच में बड़े 'युगांतरकारी' कहे जानेवाले भी शामिल हुए। पटना में हिंदू महासभा का सम्मेलन लाला लाजपतराय – जो कि अछूतों के बहुत पुराने समर्थक चले आ रहे हैं – की अध्यक्षता में हुआ, जोरदार बहस छिड़ी। अच्छी नोक–झोंक हुई। समस्या यह थी कि अछूतों को यज्ञोपवीत धारण करने का हक है अथवा नहीं? तथा क्या उन्हें वेद–शास्त्रों का अध्ययन करने का अधिकार है? बड़े–बड़े समाज–सुधारक तमतमा गए, लेकिन लालाजी ने सबको सहमत कर लिया तथा ये दो बातें स्वीकृत कर हिंदू धर्म की लाज रख ली, वरना जरा सोचो, कितनी शर्म की बात होती। **कुत्ता हमारी गोद में बैठ सकता है। हमारी रसोई में निःसंग फिरता है, लेकिन एक इंसान का हमसे स्पर्श हो जाए तो बस धर्म भ्रष्ट हो जाता है।** इस समय मालवीयजी [पंडित मदनमोहन] जैसे बड़े समाज–सुधारक, अछूतों के बड़े प्रेमी और न जाने क्या–क्या हैं। पहले एक मेहतर के हाथों गले में हार डलवा लेते हैं, लेकिन कपड़ों सहित स्नान किए बिना स्वयं को अशुद्ध समझते हैं! क्या खूब चाल है यह! सबको प्यार करनेवाले भगवान की पूजा करने के लिए मंदिर बना है लेकिन वहां अछूत जा घुसे तो वह मंदिर अपवित्र हो जाता है! भगवान रुष्ट हो जाता है! घर की जब यह स्थिति हो तो बाहर बराबरी के नाम पर झगड़ते हम अच्छे लगते हैं? तब हमारे इस रवैये में कृतघ्नता की भी हद पायी जाती है। जो निम्नतम काम करके हमारे लिए सुविधाओं को उपलब्ध कराते हैं, उन्हें ही हम दुरदुराते हैं। हम पशुओं की पूजा कर सकते हैं, लेकिन इंसान को पास नहीं बिठा सकते।

आज इस सवाल पर बहुत शोर हो रहा है। उन विचारों पर आजकल विशेष ध्यान दिया जा रहा है। देश में मुक्ति–कामना जिसतरह बढ़ रही

है, उसमें सांप्रदायिक भावना ने और कोई लाभ पहुंचाया हो अथवा नहीं लेकिन एक लाभ जरूर पहुंचाया है। अधिक अधिकारों की मांग के लिए अपनी–अपनी कौम की संख्या बढ़ाने की चिंता सभी को हुई। मुस्लिमों ने जरा ज्यादा जोर दिया। उन्होंने अछूतों को मुसलमान बनाकर अपने बराबर अधिकार देने शुरू कर दिए। इससे हिंदुओं के अहम को चोट पहुंची। स्पर्धा बढ़ी, फसाद भी हुए। धीरे–धीरे सिखों के बीच अछूतों के जनेऊ उतारने या केश कटवाने के सवालों पर झगड़े हुए। अब तीनों कौमें अछूतों को अपनी–अपनी ओर खींच रही हैं। इसका शोर–शराबा है। उधर ईसाई चुपचाप उनका रुतबा बढ़ा रहे हैं। चलो, इस सारी हलचल से ही देश के दुर्भाग्य की लानत दूर हो रही है।

इधर जब अछूतों ने देखा कि उनकी वजह से इनमें फसाद हो रहे हैं तथा उन्हें हर कोई अपनी–अपनी खुराक समझ रहा है तो क्यों न वे अलग ही संगठित हो जाएं? इस विचार के अमल में अंग्रेजी सरकार का कोई हाथ हो अथवा न हो लेकिन इतना अवश्य है कि इस प्रचार में सरकारी मशीनरी का काफी हाथ था। 'आदि धर्म मंडल' जैसे संगठन उस विचार के प्रचार का परिणाम हैं।

अब एक सवाल और उठता है कि इस समस्या का सही निदान क्या हो? इसका जवाब बड़ा अहम है। सबसे पहले यह निर्णय कर लेना चाहिए कि सब इंसान समान हैं तथा न तो जन्म से कोई भिन्न पैदा हुआ और न कार्य–विभाजन से। अर्थात क्योंकि एक आदमी यदि गरीब मेहतर के घर पैदा हो गया है, इसलिए जीवनभर वह मैला ही साफ करेगा और दुनिया में किसी तरह के विकास का काम पाने का उसे कोई हक नहीं है, ये बातें फ़िजूल हैं। इस तरह हमारे पूर्वज आर्यों ने इनके साथ ऐसा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया तथा उन्हें नीच कहकर दुत्कार दिया एवं निम्नकोटि के कार्य करवाने लगे। साथ ही यह भी चिंता हुई कि कहीं ये विद्रोह न कर दें, तब पुनर्जन्म के दर्शन का प्रचार कर दिया कि यह तुम्हारे पूर्वजन्म के पापों का फल है। अब क्या हो सकता है? चुपचाप दिन गुजारो! इसतरह उन्हें धैर्य का उपदेश देकर वे लोग उन्हें लंबे समय तक के लिए शांत करा गए। लेकिन उन्होंने बड़ा पाप किया। मानव के भीतर की मानवीयता को समाप्त कर दिया। आत्मविश्वास एवं स्वावलंबन की भावनाओं को समाप्त कर दिया। बहुत दमन और अन्याय किया गया। आज उस सबके प्रायश्चित का वक्त है।

इसके साथ एक दूसरी गड़बड़ी हो गई। लोगों के मनों में आवश्यक कार्यों के प्रति घृणा पैदा हो गई। हमने जुलाहे को भी दुत्कारा। आज कपड़ा बुननेवाले भी अछूत समझे जाते हैं। यू. पी. की तरफ कहार को भी अछूत समझा जाता है। इससे बड़ी गड़बड़ी पैदा हुई। ऐसे में विकास की प्रक्रिया में रुकावटें पैदा हो रही हैं।

इन तबकों को अपने समक्ष रखते हुए हमें चाहिए कि हम न इन्हें अछूत कहें और न समझें। बस, समस्या हल हो जाती है। नौजवान भारत सभा तथा कांग्रेस ने जो ढंग अपनाया है, वह काफी अच्छा है। जिन्हें आज तक अछूत कहा जाता रहा, उनसे अपने इन पापों के लिए क्षमा–याचना करनी चाहिए तथा उन्हें अपने जैसा इंसान समझना, बिना अमृत छकाए, बिना कलमा पढ़ाए या शुद्धि किए उन्हें अपने में शामिल करके उनके हाथ से पानी पीना, यही उचित ढंग है। और आपस में खींचतान करना और व्यवहार में कोई भी हक न देना, कोई ठीक बात नहीं है।

जब गांवों में मजदूर–प्रचार शुरू हुआ, उस समय किसानों को सरकारी आदमी यह बात समझाकर भड़काते थे कि देखो, ये भंगी–चमारों को सिर पर चढ़ा रहे हैं और तुम्हारा काम बंद करवाएंगे। बस किसान इतने में ही भड़क गए। उन्हें याद रखना चाहिए कि उनकी हालत तब तक नहीं सुधर सकती जब तक कि वे इन गरीबों को नीच और कमीना कहकर अपनी जूती के नीचे दबाए रखना चाहते हैं। अक्सर कहा जाता है कि वे साफ नहीं रहते। इसका उत्तर साफ है – वे गरीब हैं। गरीबी का इलाज करो। ऊंचे–ऊंचे कुलों के गरीब लोग भी कोई कम गंदे नहीं रहते। गंदे काम करने का बहाना भी नहीं चल सकता, क्योंकि माताएं बच्चों का मैला साफ करने से मेहतर तथा अछूत तो नहीं हो जातीं।

लेकिन यह काम उतने समय तक नहीं हो सकता जितने समय तक कि अछूत कौमें अपने–आपको संगठित न कर लें। हम तो समझते हैं कि उनका स्वयं को अलग संगठनबद्ध करना तथा मुस्लिमों के बराबर गिनती में होने के कारण उनके बराबर अधिकारों की मांग करना बहुत आशाजनक संकेत है। या तो सांप्रदायिक भेद का झंझट ही खत्म करो, नहीं तो उनके अलग अधिकार उन्हें दे दो। कौंसिलों और असेंबलियों का कर्त्तव्य है कि वे स्कूल–कालेज, कुएं तथा सड़क के उपयोग की पूरी स्वतंत्रता उन्हें दिलाएं। जुबानी तौर पर नहीं, वरन् साथ ले जाकर उन्हें कुओं पर चढ़ाएं। उनके बच्चों को स्कूलों में प्रवेश दिलाएं। लेकिन

जिस लेजिस्लेटिव असेंबली में बाल–विवाह के विरुद्ध पेश किए बिल तथा मजहब के बहाने हाय–तौबा मचाई जाती है, वहां वे अछूतों को अपने साथ शामिल करने का साहस कैसे कर सकते हैं?

इसीलिए हम मानते हैं कि उनके अपने जन–प्रतिनिधि हों। वे अपने लिए अधिक अधिकार मांगें। हम तो साफ कहते हैं कि उठो, अछूत कहलानेवाले असली जन–सेवकों तथा भाइयों उठो! अपना इतिहास देखो। गुरु गोविंद सिंह की फौज की असली शक्ति तुम्हीं थे! शिवाजी तुम्हारे भरोसे पर ही सब कुछ कर सके, जिस कारण उनका नाम आज भी जिंदा है। तुम्हारी कुर्बानियां स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई हैं। तुम जो नित्यप्रति सेवा करके जनता के सुखों में बढ़ोत्तरी करके और जिंदगी संभव बनाकर यह बड़ा भारी अहसान कर रहे हो, उसे हम लोग नहीं समझते। लैण्ड–एलिएनेशन एक्ट के अनुसार तुम धन एकत्र कर भी जमीन नहीं खरीद सकते। तुम पर इतना जुल्म हो रहा है कि मिस मेयो मनुष्यों से भी कहती हैं – उठो, अपनी शक्ति को पहचानो। संगठनबद्ध हो जाओ। असल में स्वयं कोशिशें किए बिना कुछ भी न मिल सकेगा। स्वतंत्रता के लिए स्वाधीनता चाहनेवालों को स्वयं यत्न करना चाहिए। इंसान की धीरे–धीरे कुछ ऐसी आदतें हो गई हैं कि वह अपने लिए तो अधिक अधिकार चाहता है, लेकिन जो उनके मातहत हैं उन्हें वह अपनी जूती के नीचे ही दबाए रखना चाहता है। कहावत है, 'लातों के भूत बातों से नहीं मानते'। अर्थात संगठनबद्ध हो अपने पैरों पर खड़े होकर पूरे समाज को चुनौती दे दो। तब देखना, कोई भी तुम्हें तुम्हारे अधिकार देने से इंकार करने की जुर्रत न कर सकेगा। तुम दूसरों की खुराक मत बनो। दूसरों के मुंह की ओर न ताको। लेकिन ध्यान रहे, नौकरशाही के झांसे में मत फंसना। यह तुम्हारी कोई सहायता नहीं करना चाहती बल्कि तुम्हें अपना मोहरा बनाना चाहती है। **यही पूंजीवादी नौकरशाही तुम्हारी गुलामी और गरीबी का असली कारण है। इसलिए तुम उसके साथ कभी न मिलना। उसकी चालों से बचना। तब सब कुछ ठीक हो जाएगा। तुम असली सर्वहारा हो . . . संगठनबद्ध हो जाओ। तुम्हारी कुछ हानि न होगी। बस गुलामी की जंजीरें कट जाएंगी। उठो, और वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बगावत खड़ी कर दो। धीरे–धीरे होनेवाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आंदोलन से क्रांति पैदा कर दो तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रांति के लिए कमर कस लो। तुम ही तो देश का मुख्य आधार हो, वास्तविक शक्ति हो, सोए हुए शेरों! उठो, और बगावत खड़ी कर दो।** ■

मैं नास्तिक क्यों हूं ?[6]

*भगतसिंह द्वारा अक्तूबर 1930 में लिखे इस आलेख को यहां पेश करने के तीन कारण हैं। **पहला,** आधुनिक समाज में बढ़ता अंधविश्वास। **दूसरा,** देश की अहम समस्याओं को समझने या हल करने में तर्क के इस्तेमाल को इंकार करने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति। **तीसरा,** पूंजीवाद के नवउदारवादी चरण में पूंजी और बाजार की निरंकुशता, साथ में बढ़ते हुए धार्मिक कट्टरवाद, का प्रतिरोध करने के लिए सटीक सवाल उठाने, आंकड़े बटोरने और लड़ने का डर। अंधविश्वास से हम बात शुरू करें। एक आम धारणा है कि अंधविश्वास केवल धार्मिक कर्मकांड और पारंपरिक मान्यताओं तक ही सीमित है। लेकिन अब बढ़ते क्रम में यह रोजाना के जीवन को प्रभावित करने लगा है। मीडिया – खासकर इलैक्ट्रॉनिक मीडिया – बढ़–चढ़कर इसका प्रचार–प्रसार कर रहा है चूंकि इससे मुनाफा होता है, टी.आर.पी. बढ़ती है। राजनेता व राजनीतिक पार्टियां, फिल्मों के हीरो–हीरोइन और यहां तक कि शेयर व सट्टा बाजार भी इसका इस्तेमाल करके जनता में भ्रांति फैला रहे हैं। यहां तक कि सन् 2000–2001 में देश के मानव संसाधन मंत्री ने कालेज व विश्वविद्यालयों में कर्मकांड के कोर्स तक शुरू करवा दिए। यह सब समाज की तार्किकता और वैज्ञानिक मानस पर हमला है।*

इससे भी बड़ा खतरा है राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक समस्याओं को समझने के लिए तर्क को नकारना। सन् 1984 में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की हत्या के बाद पूरा देश भावावेश की 'सुनामी' में बह गया। हजारों निर्दोष सिखों का नरसंहार कर दिया गया। पुलिस और फौज तमाशबीन बनी रही। साथ में हत्या हुई तर्क की, तर्क के साथ इंसानियत की। उसके बाद गैर–तार्किकता की एक और हवा बही – प्रधानमंत्री युवा होना चाहिए और बना भी दिया। यह भ्रम पैदा किया गया कि युवा प्रधानमंत्री बुजुर्ग प्रधानमंत्री से बेहतर होगा – मानो कि व्यक्ति का वर्ग चरित्र और पूंजीवाद व जाति व्यवस्था के प्रति उसका

---

[6]स्रोत : 'भगतसिंह के संपूर्ण दस्तावेज', संपादक : चमन लाल, आधार प्रकाशन प्रा. लि., पंचकूला (हरियाणा), दूसरा संस्करण, 2005, पृ. 250–263.

सोच उम्र से तय होता है। अब फिर युवा प्रधानमंत्री के पीछे नये सिरे से भ्रम पैदा किया जा रहा है, चाहे उसकी और बुजुर्ग प्रधानमंत्री की नीतियों में रंचमात्र भी फर्क न हो। उधर गुजरात के वर्तमान मुख्यमंत्री ने नए लोक–लुभावन राजमार्ग बनाकर, देशी–विदेशी कारपोरेट घरानों को सार्वजनिक धन लुटाकर और अल्पसंख्यक समाज को 'भयभीत' करके पूंजीवादी विकास के सपने दिखा दिए। इसके चलते वे सब तर्क और आंकड़े धराशायी हो गए कि गुजरात में गरीबी, गैर–बराबरी व भेदभाव, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं की बदहाली के सवाल देश के अन्य प्रदेशों के ही जैसे हैं या कई मायनों में बदतर भी हैं। इसके बावजूद 'गुजरात विकास माडल' राजनीति पर हावी हो रहा है। इस गैर–तार्किकता के सहारे ये मुख्यमंत्री भी प्रधानमंत्री के दावेदार बन चुके हैं।

तीसरा सरोकार, नवउदारवादी पूंजी का हमारे जल–जंगल–जमीन, जीविका और ज्ञान पर हो रहा हमला है। पिछले 20 सालों में नवउदारवादी नीतियों ने देश को केवल आर्थिक और सामाजिक रूप से ही नहीं, वरन् सांस्कृतिक व नैतिक रूप से भी खोखला किया है। लेकिन इसका प्रतिरोध अगर हो रहा है तो केवल मेहनतकश गरीब जनता की ओर से। शिक्षित मध्यम वर्ग अपनी शिक्षा और नैतिकता को ताक पर रखकर वैश्विक पूंजी में समाहित हो रहा है, एड़जेस्ट हो रहा है। यह स्वार्थ की जीत है जिसके सामने तर्क व बौद्धिकता घुटने टेकती है। नवउदारवादी युग में एक ओर पूंजी और दूसरी ओर धार्मिक कट्टरवाद व अंधविश्वास का भी गठबंधन बढ़ता जा रहा है। इसी के चलते हाल में डॉ. नरेंद्र डाभोलकर को शहादत देनी पड़ी। आखिरकार, उनका तर्कशीलता व वैज्ञानिक सोच पर टिका आंदोलन पूंजीवादी शोषण और धार्मिक कट्टरवाद व अंधविश्वास दोनों पर जनमानस में गहरे सवाल उठा रहा था।

'मैं नास्तिक क्यों हूं?' आलेख में भगतसिंह ने जिस विलक्षणता के साथ अंधविश्वास, तर्कहीनता और गैर–वैज्ञानिक सोच को चुनौती दी है, वह बेजोड़ है। पूंजीवाद के खिलाफ चल रही लड़ाई को समाजवादी क्रांति के मकसद से जोड़कर लिखा गया यह आलेख ऐतिहासिक महत्व का है। इसके गर्भ में भारत की मुक्ति का संदेश छिपा है।

[भगतसिंह जब लाहौर जेल में थे, तब गदर पार्टी से संपर्क रखने के अपराध में भाईसाहिब भाई रणधीरसिंह भी कैद भुगत रहे थे। भाई रणधीरसिंह की – अपनी रिहाई से कुछ दिन पहले भगतसिंह से भेंट हुई। गदरी बाबों – बाबा हरनामसिंह कालासंघिया व तेजा सिंह चूहड़काना ने यह भेंट करवाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भाई रणधीरसिंह ने एक बार यह कहकर कि भगतसिंह ने केश कटा दिए हैं, उनसे मिलने से इंकार कर दिया था। इसके उत्तर में पत्र लिखकर भगतसिंह ने कहा था – "मैं सिख धर्म की अंग–अंग कटवाने की परंपरा का कायल हूं। अभी तो मैंने एक ही अंग (केश) कटवाया है, यह भी पेट के लिए नहीं, देश के लिए – जल्दी ही गर्दन भी कटवाऊंगा। लेकिन एक सिख की तंगनज़री व तंगदिली का गिला ज़रूर रहेगा।

इसके बाद भाईसाहिब मुलाकात के लिए आए।

एक बार इसी विषय पर चर्चा करते हुए भगतसिंह ने बाबा सोहनसिंह भकना से कहा था, "हमारी पुरानी विरासत के दो पक्ष होते हैं, एक सांस्कृतिक और दूसरा मिथिहासिक। मैं सांस्कृतिक गुणों – जैसे निष्काम देश सेवा व बलिदान, विश्वासों पर अटल रहना – को पूरी सच्चाई से अपनाकर आगे बढ़ने की कोशिश में हूं, लेकिन मिथिहासिक विचारों को, जो कि पुराने समय की समझ के अनुरूप हैं, वैसे–का–वैसा मानने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं हूं, क्योंकि विज्ञान ने ज्ञान में खूब वृद्धि की है और वैज्ञानिक विचार अपनाकर ही भविष्य की समस्याएं हल हो सकती हैं।" अब, भले ही सांप्रदायिक तत्व यह कोशिश करते रहे हैं कि भगतसिंह के विचारों में गंदलापन लाया जाए, लेकिन ऐसा करना संभव नहीं है। भगतसिंह की रचनाओं में सबसे महत्वपूर्ण इस दस्तावेज ('मैं नास्तिक क्यों हूं?') ने भाईसाहिब के सवालों के उत्तर देते हुए धर्म संप्रदाय संबंधी अस्पष्टता के लिए कोई आधार ही नहीं छोड़ा। इस दस्तावेज की रचना 5–6 अक्तूबर 1930 को हुई थी। – सं. चमन लाल]

एक नई समस्या उठ खड़ी हुई है – क्या मैं किसी अहंकार के कारण सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी तथा सर्वज्ञानी ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करता हूं? मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि मुझे इस समस्या का सामना करना पड़ेगा। लेकिन अपने दोस्तों से बातचीत के दौरान मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मेरे कुछ दोस्त, यदि मित्रता का मेरा दावा

गलत न हो, मेरे साथ अपने थोड़े से संपर्क में इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए उत्सुक हैं कि मैं ईश्वर के अस्तित्व को नकार कर कुछ जरूरत से ज्यादा आगे जा रहा हूं और मेरे घमंड ने कुछ हद तक मुझे इस अविश्वास के लिए उकसाया है। जी हां, यह एक गंभीर समस्या है। मैं ऐसी कोई शेखी नहीं बघारता कि मैं मानवीय कमजोरियों से बहुत ऊपर हूं। मैं एक मनुष्य हूं और इससे अधिक कुछ नहीं। कोई भी इससे अधिक होने का दावा नहीं कर सकता। एक कमजोरी मेरे अंदर भी है। अहंकार मेरे स्वभाव का अंग है। अपने कामरेडों के बीच मुझे एक निरंकुश व्यक्ति कहा जाता था। यहां तक कि मेरे दोस्त श्री बी. के. दत्त भी मुझे कभी–कभी ऐसा कहते थे। कई मौकों पर स्वेच्छाचारी कहकर मेरी निंदा भी की गई। कुछ दोस्तों को यह शिकायत है, और गंभीर रूप से है कि मैं अनचाहे ही अपने विचार उन पर थोपता हूं और अपने प्रस्तावों को मनवा लेता हूं। यह बात कुछ हद तक सही है, इससे मैं इंकार नहीं करता। इसे अहंकार भी कहा जा सकता है। जहां तक अन्य प्रचलित मतों के मुकाबले हमारे अपने मत का सवाल है, मुझे निश्चय ही अपने मत पर गर्व है। लेकिन यह व्यक्तिगत नहीं है। ऐसा हो सकता है कि यह केवल अपने विश्वास के प्रति न्यायोचित गर्व हो और इसको घमंड नहीं कहा जा सकता। घमंड या सही शब्दों में अहंकार तो स्वयं के प्रति अनुचित गर्व की अधिकता है। तो फिर क्या यह अनुचित गर्व है जो मुझे नास्तिकता की ओर ले गया, अथवा इस विषय का खूब सावधानी के साथ अध्ययन करने और उस पर खूब विचार करने के बाद मैंने ईश्वर पर अविश्वास किया? यह प्रश्न है जिसके बारे में मैं यहां बात करना चाहता हूं। लेकिन पहले मैं यह साफ कर दूं कि आत्माभिमान और अहंकार दो अलग–अलग बातें हैं।

पहली बात तो मैं यह समझने में पूरी तरह से असमर्थ रहा हूं कि अनुचित गर्व या वृथाभिमान किस प्रकार किसी व्यक्ति के ईश्वर में विश्वास करने के रास्ते में रोड़ा बन सकता है। मैं वास्तव में किसी महान व्यक्ति की महानता को मान्यता न दूं यह तभी हो सकता है जब मुझे भी थोड़ा ऐसा यश प्राप्त हो गया हो जिसके या तो मैं योग्य नहीं हूं या मेरे अंदर वो गुण नहीं है जो कि इसके लिए आवश्यक अथवा अनिवार्य हैं। यहां तक तो समझ में आता है। लेकिन यह कैसे हो सकता है कि एक व्यक्ति, जो ईश्वर में विश्वास रखता हो, सहसा अपने व्यक्तिगत अहंकार के कारण उसमें विश्वास करना बंद कर दे? दो ही रास्ते संभव हैं। या तो मनुष्य अपने को ईश्वर का प्रतिद्वंद्वी समझने लगे या वह स्वयं को ही ईश्वर मानना शुरू कर दे। इन दोनों

ही अवस्थाओं में वह सच्चा नास्तिक नहीं बन सकता। पहली अवस्था में तो वह प्रतिद्वंद्वी के अस्तित्व को नकारता ही नहीं है। दूसरी अवस्था में भी वह एक ऐसी चेतना के अस्तित्व को मानता है, जो पर्दे के पीछे से प्रकृति की सभी गतिविधियों का संचालन करती है। हमारे लिए इस बात का कोई महत्व नहीं कि वह अपने को परम आत्मा समझता है कि वह परम चेतना उससे परे कुछ और है। मूल बात तो मौजूद है। उसका विश्वास मौजूद है। वह किसी भी तरह एक नास्तिक नहीं है। तो मैं यह कहना चाहता था कि न तो मैं पहली श्रेणी में आता हूं और न दूसरी में। मैं तो उस सर्वशक्तिनान परम आत्मा के अस्तित्व से ही इंकार करता हूं। मैं इससे क्यों इंकार करता हूं इसको बाद में देखेंगे। यहां तो मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि यह अहंकार नहीं है जिसने मुझे नास्तिकता के सिद्धांत को ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। न तो मैं एक प्रतिद्वंद्वी हूं, न ही अवतार और न ही स्वयं परम आत्मा। एक बात निश्चित है, यह अहंकार नहीं है जो मुझे इस भांति सोचने की ओर ले गया। इस अभियोग को अस्वीकार करने के लिए आइए, तथ्यों पर गौर करें। मेरे इन दोस्तों के अनुसार, दिल्ली बम केस और लाहौर षड़यंत्र केस के दौरान मुझे जो अनावश्यक यश मिला, शायद उस कारण मैं वृथाभिमानी हो गया हूं। तो फिर आइए, देखें कि क्या यह पक्ष सही है। मेरा नास्तिकतावाद कोई अभी हाल की उत्पत्ति नहीं है। मैंने तो ईश्वर पर विश्वास करना तब छोड़ दिया था जब मैं एक अप्रसिद्ध नौजवान था, जिसके अस्तित्व के बारे में मेरे उपरोक्त दोस्तों को कुछ पता भी न था। कम–से–कम एक कालेज का विद्यार्थी तो ऐसे किसी अनुचित अहंकार को नहीं पाल पोस सकता जो उसे नास्तिकता की ओर ले जाए। यद्यपि मैं कुछ अध्यापकों का चहेता था तथा कुछ अन्य को मैं अच्छा नहीं लगता था, पर मैं कभी बहुत मेहनती अथवा पढ़ाकू विद्यार्थी नहीं रहा। अहंकार जैसी भावना में फंसने का तो कोई मौका ही न मिल सका। मैं तो एक बहुत लज्जालु स्वभाव का लड़का था, जिसकी भविष्य के बारे में कुछ निराशावादी प्रकृति थी। और उन दिनों मैं पूर्ण नास्तिक नहीं था। मेरे बाबा, जिनके प्रभाव में मैं बड़ा हुआ, एक रूढ़िवादी आर्यसमाजी हैं। एक आर्यसमाजी और कुछ भी हो, नास्तिक नहीं होता। अपनी प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के बाद मैंने डी. ए. वी. स्कूल, लाहौर में प्रवेश लिया और पूरे एक साल उसके छात्रावास में रहा। वहां सुबह और शाम की प्रार्थना के अतिरिक्त मैं घंटों गायत्री मंत्र जपा करता था। उन दिनों मैं पूरा भक्त था। बाद में मैंने अपने पिता के साथ रहना शुरू किया। जहां तक धार्मिक

रूढ़िवादिता का प्रश्न है, वह एक उदारवादी व्यक्ति हैं। उन्हीं की शिक्षा से मुझे स्वतंत्रता के ध्येय के लिए अपने जीवन को समर्पित करने की प्रेरणा मिली। किंतु वे नास्तिक नहीं हैं। उनका ईश्वर में दृढ़ विश्वास है। वे मुझे प्रतिदिन पूजा–प्रार्थना के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। इस प्रकार से मेरा पालन–पोषण हुआ। असहयोग आंदोलन के दिनों में मैंने राष्ट्रीय कालेज में प्रवेश लिया। यहां आकर ही मैंने सारी धार्मिक समस्याओं, यहां तक कि ईश्वर् के बारे में उदारपूर्वक सोचना, विचारना तथा उसकी आलोचना करना शुरू किया। पर अभी भी मैं पक्का आस्तिक था। उस समय तक मैंने अपने बिना काटे व संवारे हुए लंबे बालों को रखना शुरू कर दिया था, यद्यपि मुझे कभी भी सिख या अन्य धर्मों की पौराणिकता और सिद्धांतों में विश्वास न हो सका था। किंतु मेरी ईश्वर के अस्तित्व में दृढ़ निष्ठा थी।

बाद में मैं क्रांतिकारी पार्टी से जुड़ा। वहां पर जिस पहले नेता से मेरा संपर्क हुआ, वे तो पक्का विश्वास न होते हुए भी ईश्वर के अस्तित्व को नकारने का साहस ही नहीं कर सकते थे। ईश्वर के बारे में मेरे हठपूर्वक पूछते रहने पर वे कहते, "जब इच्छा हो तब पूजा कर लिया करो।" यह नास्तिकता है जिसमें इस विश्वास को अपनाने के साहस का अभाव है। दूसरे नेता जिनके संपर्क में मैं आया वे पक्के श्रद्धालु थे। उनका नाम बता दूं – आदरणीय कामरेड शचींद्रनाथ सान्याल – जो कि आजकल काकोरी षड़यंत्र केस के सिलसिले में आजीवन कारावास भोग रहे हैं। उनकी अकेली प्रसिद्ध पुस्तक 'बंदी जीवन' में पहले पेज से ही ईश्वर की महिमा का जोर–शोर से गान है। उस सुंदर पुस्तक के दूसरे भाग के अंतिम पेज में उन्होंने ईश्वर के ऊपर प्रशंसा के जो रहस्यात्मक वेदांत के कारण पुष्प बरसाए हैं वे उनके विचारों का अजीबोगरीब हिस्सा हैं। 28 जनवरी, 1925 को पूरे भारत में जो 'दी रिवाल्यूशनरी' (क्रांतिकारी) परचा बांटा गया था वह अभियोग पक्ष की कहानी के अनुसार उन्हीं के बौद्धिक श्रम का परिणाम है। अब इस प्रकार के गुप्त कार्यों में कोई प्रमुख नेता अनिवार्यतः अपने विचारों को ही रखता है, जो उसे स्वयं बहुत प्रिय होते हैं और अन्य कार्यकर्ताओं को उनसे सहमत होना होता है, उन मतभेदों के बावजूद जो उनके हो सकते थे। उस परचे में पूरा एक पैराग्राफ उस सर्वशक्तिमान तथा उसकी लीला एवं कार्यों की प्रशंसा से भरा पड़ा था। यह सब रहस्यवाद है। मैं जो कहना चाहता था वह यह है कि ईश्वर के प्रति अविश्वास का भाव क्रांतिकारी दल में भी प्रस्फुटित नहीं हुआ था। काकोरी के प्रसिद्ध सभी चार शहीदों ने अपने अंतिम दिन भजन प्रार्थना

में गुजारे थे। रामप्रसाद बिस्मिल एक रूढ़िवादी आर्यसमाजी थे। समाजवाद तथा साम्यवाद में अपने वृहद अध्ययन के बावजूद, राजेंद्र लाहिड़ी उपनिषद् एवं गीता के श्लोकों के उच्चारण की अपनी अभिलाषा को दबा न सके। मैंने उन सबमें सिर्फ एक ही व्यक्ति को देखा जो कभी प्रार्थना नहीं करता था और कहता था, "दर्शनशास्त्र मनुष्य की दुर्बलता अथवा ज्ञान के सीमित होने के कारण उत्पन्न होता है।" वह भी आजीवन निर्वासन की सजा भोग रहा है। परंतु उसने भी ईश्वर के अस्तित्व को नकारने की कभी हिम्मत नहीं की।

इस समय तक मैं केवल एक रोमांटिक आदर्शवादी क्रांतिकारी था। अब तक हम दूसरों का अनुसरण करते थे, अब अपने कंधों पर जिम्मेदारी उठाने का समय आया था। कुछ समय तक तो, अवश्यंभावी प्रक्रिया के फलस्वरूप पार्टी का अस्तित्व ही असंभव–सा दिखा। उत्साही कामरेडों, नहीं नेताओं ने भी हमारा उपहास करना शुरू कर दिया। कुछ समय तक तो मुझे यह डर लगा कि एक दिन मैं भी कहीं अपने कार्यक्रम की व्यर्थता के बारे में आश्वस्त न हो जाऊं। वह मेरे क्रांतिकारी जीवन का एक निर्णायक बिंदु था। अध्ययन की पुकार मेरे मन के गलियारों में गूंज रही थी – विरोधियों द्वारा रखे गए तर्कों का सामना करने योग्य बनने के लिए अध्ययन करो। अपने मत के समर्थन में तर्क देने के लिए सक्षम होने के वास्ते पढ़ो। मैंने पढ़ना शुरू कर दिया। इससे मेरे पुराने विचार व विश्वास अद्भुत रूप से परिष्कृत हुए। हिंसात्मक तरीकों को अपनाने का रोमांस, जो कि हमारे पुराने साथियों में अत्यधिक व्याप्त था, की जगह गंभीर विचारों ने ले ली। अब रहस्यवाद और अंधविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं रहा। यर्थाथवाद हमारा आधार बना। **हिंसा तभी न्यायोचित है जब किसी विकट आवश्यकता में उसका सहारा लिया जाए। अहिंसा सभी जन आंदोलनों का अनिवार्य सिद्धांत होना चाहिए।** यह तो रही तरीकों की बात। सबसे आवश्यक बात उस आदर्श की स्पष्ट धारणा है जिसके लिए हमें लड़ना है। चूंकि उस समय कोई विशेष क्रांतिकारी कार्य नहीं हो रहा था अतः मुझे विश्व क्रांति के अनेक आदर्शों के बारे में पढ़ने का खूब मौका मिला। मैंने अराजकतावादी नेता बाकुनिन को पढ़ा, कुछ साम्यवाद के पिता मार्क्स को, किंतु ज्यादातर लेनिन, त्रात्स्की व अन्य लोगों को पढ़ा जो अपने देश में सफलतापूर्वक क्रांति लाए थे। वे सभी नास्तिक थे। बाकुनिन की पुस्तक 'ईश्वर और राज्य' इस विषय पर, यद्यपि आंशिक रूप में, एक अच्छा अध्ययन है। बाद में मुझे निरलंब स्वामी द्वारा लिखी एक पुस्तक 'सहज ज्ञान' मिली। इसमें केवल एक रहस्यवादी नास्तिकता थी। इस विषय के प्रति मेरा

गहरा रूझान हो गया। 1926 के अंत तक मुझे इस बात का विश्वास हो गया कि सर्वशक्तिमान परम आत्मा की बात – जिसने ब्रम्हाण्ड का सृजन किया, दिग्दर्शन और संचालन किया – एक कोरी बकवास है। मैंने अपने इस अविश्वास को प्रदर्शित किया। मैंने इस विषय पर अपने दोस्तों से बहस की। मैं एक घोषित नास्तिक हो चुका था। किंतु इसका अर्थ क्या था, यह मैं आगे बतलाऊंगा।

मई 1927 में मैं लाहौर में गिरफ्तार हुआ। यह गिरफ्तारी अकस्मात हुई थी। मुझे इसका जरा भी अहसास नहीं था कि पुलिस को मेरी तलाश है। अचानक एक बगीचे से गुजरते हुए मैंने पाया कि मैं पुलिसवालों से घिरा हुआ हूं। मुझे स्वयं आश्चर्य हुआ कि मैं उस समय बहुत शांत रहा। न तो कोई सनसनी महसूस हुई, न ही जरा भी उत्तेजना का अनुभव हुआ। मुझे पुलिस हिरासत में ले लिया गया था। अगले दिन मुझे रेलवे पुलिस हवालात में ले जाया गया, जहां मुझे पूरा एक महीना काटना पड़ा। पुलिस अफसरों से कई दिनों की बातचीत के बाद मुझे ऐसा लगा कि उन्हें मेरे काकोरी दल के साथ संबंधों तथा क्रांतिकारी आंदोलन से संबंधित मेरी गतिविधियों के बारे में कुछ जानकारी है। उन्होंने मुझे बताया कि मैं लखनऊ में था जब वहां मुकदमा चल रहा था, कि मैंने उन्हें छुड़ाने की किसी योजना पर बात की थी, कि उनकी सहमति पाने के बाद हमने कुछ बम प्राप्त किए थे, कि 1926 में दशहरा के अवसर पर उन बमों में से एक परीक्षण के लिए भीड़ पर फेंका गया। उसके बाद मेरे भले के लिए उन्होंने मुझे बताया कि यदि मैं क्रांतिकारी दल की गतिविधियों पर प्रकाश डालनेवाला एक वक्तव्य दे दूं तो मुझे गिरफ्तार नहीं किया जाएगा और इनाम दिया जाएगा। मैं इस प्रस्ताव पर हंसा। यह सब बेकार की बात थी। हम लोगों की भांति विचार रखनेवाले अपनी निर्दोष जनता पर बम नहीं फेंका करते। एक दिन सुबह सी. आई. डी. के वरिष्ठ अधीक्षक श्री न्यूमन मेरे पास आए। लंबी–चौड़ी सहानुभूतिपूर्ण बातों के बाद उन्होंने मुझे, अपनी समझ में, यह अत्यंत दुखद समाचार दिया कि यदि मैंने उनके द्वारा मांगा गया वक्तव्य नहीं दिया तो वे मुझ पर काकोरी केस से संबंधित विद्रोह छेड़ने के षड़यंत्र तथा दशहरा बम उपद्रव में क्रूर हत्याओं के लिए मुकदमा चलाने पर बाध्य होंगे। और आगे उन्होंने मुझे यह भी बताया कि उनके पास मुझे सजा दिलाने व [फांसी पर] लटकाने के लिए उचित प्रमाण मौजूद हैं। उन दिनों मुझे यह विश्वास था, यद्यपि मैं बिल्कुल निर्दोष था, कि पुलिस यदि चाहे तो ऐसा कर सकती है। उसी दिन से कुछ पुलिस अफसरों ने मुझे नियम से दोनों समय ईश्वर की स्तुति करने के

लिए फुसलाना शुरू कर दिया। पर अब मैं एक नास्तिक था। मैं स्वयं के लिए यह बात तय करना चाहता था कि क्या शांति और आनंद के दिनों में ही मैं नास्तिक होने का दंभ भरता हूं अथवा ऐसे कठिन समय में भी मैं उन सिद्धांतों पर अडिग रह सकता हूं। बहुत सोचने के बाद मैंने यह निश्चय किया कि किसी भी तरह ईश्वर पर विश्वास तथा प्रार्थना मैं नहीं कर सकता। न ही मैंने एक क्षण के लिए भी अरदास की। यही असली परीक्षण था और इसमें मैं सफल रहा। एक क्षण को भी अन्य बातों की कीमत पर अपनी गर्दन बचाने की मेरी इच्छा नहीं हुई। अब मैं एक पक्का नास्तिक था और तब से लगातार हूं। इस परीक्षण पर खरा उतरना आसान काम न था। 'विश्वास' कष्टों को हल्का कर देता है, यहां तक कि उन्हें सुखकर बना सकता है। ईश्वर से मनुष्य को अत्यधिक सांत्वना देनेवाला एक आधार मिल सकता है। 'उसके' बिना मनुष्य को स्वयं अपने ऊपर निर्भर होना पड़ता है। तूफान और झंझावत के बीच अपने पांवों पर खड़ा रहना कोई बच्चों का खेल नहीं है। परीक्षा की इन घड़ियों में अहंकार, यदि है, तो भाप बनकर उड़ जाता है और मनुष्य आम विश्वास को ठुकराने का साहस नहीं कर पाता। पर यदि करता है तो, इसमें निष्कर्ष निकलता है कि उसके पास सिर्फ अहंकार नहीं वरन् कोई अन्य शक्ति है। आज बिल्कुल वैसी ही स्थिति है। पहले से ही अच्छी तरह पता है कि [मुकदमे का] क्या फैसला होगा। एक सप्ताह में ही फैसला सुना दिया जाएगा। मैं अपना जीवन एक ध्येय के लिए कुर्बान करने जा रहा हूं, इस विचार के अतिरिक्त और क्या सांत्वना हो सकती है? ईश्वर में विश्वास रखनेवाला हिंदू पुनर्जन्म पर एक राजा होने की आशा कर सकता है, एक मुसलमान या ईसाई स्वर्ग में व्याप्त समृद्धि के आनंद की तथा अपने कष्टों और बलिदानों के लिए पुरस्कार की कल्पना कर सकता है। किंतु मैं किस बात की आशा करूं? मैं जानता हूं कि जिस क्षण रस्सी का फंदा मेरी गर्दन पर लगेगा और मेरे पैरों के नीचे से तख्ता हटेगा, वही पूर्ण विराम होगा – वही अंतिम क्षण होगा। मैं, या संक्षेप में आध्यात्मिक शब्दावली की व्याख्या के अनुसार, मेरी आत्मा, सब वहीं समाप्त हो जाएगी। आगे कुछ भी नहीं रहेगा। एक छोटी सी जूझती हुई जिंदगी, जिसकी कोई ऐसी गौरवशाली परिणति नहीं है, अपने में स्वयं एक पुरस्कार होगी, यदि मुझमें उसे इस दृष्टि से देखने का साहस हो। यही सब कुछ है। बिना किसी स्वार्थ के, यहां या यहां के बाद पुरस्कार की इच्छा के बिना, मैंने आसक्त भाव से अपने जीवन को स्वतंत्रता के ध्येय पर समर्पित कर दिया है, क्योंकि मैं और कुछ कर ही नहीं सकता था।

जिस दिन हमें इस मनोवृत्ति के बहुत से पुरुष और महिलाएं मिल जाएंगे, जो अपने जीवन को मनुष्य की सेवा तथा पीड़ित मानवता के उद्धार के अतिरिक्त और कहीं समर्पित कर ही नहीं सकते, उसी दिन मुक्ति के युग का शुभारंभ होगा। वे शोषकों, उत्पीड़कों और अत्याचारियों को चुनौती देने के लिए उत्प्रेरित होंगे, इसलिए नहीं कि उन्हें राजा बनना है या और कोई अन्य पुरस्कार प्राप्त करना है – यहां या अगले जन्म में या मृत्योपरांत स्वर्ग में। उन्हें तो मानवता की गर्दन से दास वृत्ति का जुआ उतार फेंकने और मुक्ति एवं शांति स्थापित करने के लिए इस मार्ग को अपनाना होगा। क्या वे उस रास्ते पर चलेंगे जो उनके अपने लिए खतरनाक किंतु उनकी महान आत्मा के लिए एकमात्र शानदार रास्ता है? क्या अपने महान ध्येय के प्रति उनके गर्व को अहंकार कहकर उसका गलत अर्थ लगाया जाएगा? कौन इस प्रकार के घृणित विशेषण लगाने का साहस करता है? मैं कहता हूं कि ऐसा व्यक्ति या तो मूर्ख है या धूर्त। हमें चाहिए कि उसे क्षमा कर दें, क्योंकि वह उस हृदय में उद्वेलित उच्च विचारों, भावनाओं, आवेगों तथा उनकी गहराई को महसूस नहीं कर सकता। उसका हृदय एक मांस के टुकड़े की तरह मृत है। उसकी आंखें अन्य स्वार्थों के प्रेत की छाया पड़ने से कमजोर हो गई हैं। स्वयं पर भरोसा करने के गुण को सदैव अहंकार की संज्ञा दी जा सकती है। और यह दुखपूर्ण एवं कष्टप्रद है, पर चारा ही क्या है?

तुम जाओ, और किसी प्रचलित धर्म का विरोध करो; जाओ और किसी हीरो की, महान व्यक्ति की – जिसके बारे में सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि वह आलोचना से परे है क्योंकि वह गलती कर ही नहीं सकता – आलोचना करो, तो तुम्हारे तर्क की शक्ति हजारों लोगों को तुम पर वृथाभिमानी होने का आक्षेप लगाने को मजबूर कर देगी। ऐसा मानसिक जड़ता के कारण होता है। आलोचना तथा स्वतंत्र विचार, दोनों ही एक क्रांतिकारी के अनिवार्य गुण हैं। क्योंकि महात्मा जी महान हैं, अतः किसी को उनकी आलोचना नहीं करनी चाहिए। चूंकि वह ऊपर उठ गए हैं, अतः हर बात जो वे कहते हैं – चाहे वह राजनीति के क्षेत्र की हो या धर्म, अर्थशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र के – सब सही है। आप चाहे आश्वस्त हों अथवा नहीं, आपको कहना चाहिए, 'हां यही सच है।' ऐसी मानसिकता विकास की ओर नहीं ले जा सकती। यह तो स्पष्ट रूप से प्रतिक्रियावादी है।

क्योंकि हमारे पूर्वजों ने किसी परम आत्मा (सर्वशक्तिमान ईश्वर) के प्रति विश्वास बना लिया था अतः किसी भी ऐसे व्यक्ति को, जो उस विश्वास की सत्यता या उस परम आत्मा के अस्तित्व ही को चुनौती दे, विधर्मी, विश्वसघाती कहा जाएगा। यदि उसके तर्क इतने अकाट्य हैं कि उनका खंडन वितर्क द्वारा नहीं हो सकता और उसकी आस्था इतनी प्रबल है कि उसे ईश्वर के प्रकोप से होनेवाली विपत्तियों का भय दिखाकर दबाया नहीं जा सकता, तो उसकी यह कहकर निंदा की जाएगी कि वह वृथाभिमानी है, उसकी प्रकृति पर अहंकार हावी है। तो इस व्यर्थ विवाद पर समय नष्ट करने का क्या लाभ? फिर इन सारी बातों पर बहस करने की कोशिश क्यों? ये लंबी बहस इसलिए, क्योंकि जनता के सामने यह प्रश्न आज पहली बार आया है और आज ही पहली बार इस पर वस्तुगत रूप से चर्चा हो रही है।

जहां तक पहले प्रश्न की बात है, मैं समझता हूं कि मैंने यह साफ कर दिया है कि यह मेरा अहंकार नहीं था, जो मुझे नास्तिकता की ओर ले गया। मेरे तर्क का तरीका संतोषप्रद सिद्ध होता है या नहीं, इसका निर्णय मेरे पाठकों को करना है, मुझे नहीं। मैं जानता हूं कि वर्तमान परिस्थितियों में ईश्वर पर विश्वास ने मेरा जीवन आसान और मेरा बोझ हल्का कर दिया होता और उस मेरे अविश्वास ने सारे वातावरण को अत्यंत शुष्क बना दिया है और परिस्थितियां एक कठोर रूप ले सकती हैं। थोड़ा–सा रहस्यवाद इसे कवित्वमय बना सकता है। किंतु मेरे भाग्य को किसी उन्माद का सहारा नहीं चाहिए। मैं यथार्थवादी हूं। मैं अपनी अंतःप्रकृति पर विवेक की सहायता से विजय चाहता हूं। इस ध्येय में मैं सदैव सफल नहीं हुआ हूं। प्रयत्न तथा प्रयास करना मनुष्य का कर्त्तव्य है, सफलता तो संयोग तथा वातावरण पर निर्भर है।

और दूसरा सवाल, कि यदि यह अहंकार नहीं था, तो ईश्वर के अस्तित्व के बारे में प्राचीन तथा आज भी प्रचलित श्रद्धा पर अविश्वास का कोई कारण होना चाहिए। जी हां, मैं अब इस पर आता हूं। कारण है। मेरे विचार से कोई भी मनुष्य जिसमें जरा सी भी विवेकशक्ति है वह अपने वातावरण को तार्किक रूप से समझना चाहेगा। जहां सीधा प्रमाण नहीं होता, वहां दर्शनशास्त्र महत्वपूर्ण स्थान बना लेता है। जैसा कि मैंने पहले कहा था, मेरे क्रांतिकारी साथी कहा करते थे कि दर्शनशास्त्र मनुष्य की दुर्बलता का परिणाम है। जब हमारे पूर्वजों ने फुरसत के समय विश्व के रहस्य को, इसके भूत, वर्तमान एवं भविष्य, इसके 'क्यों' और 'कहां' से को – समझने का प्रयास किया तो सीधे

प्रमाणों के भारी अभाव में हर व्यक्ति ने इन प्रश्नों को अपने–अपने ढंग से हल किया। यही कारण है कि विभिन्न धार्मिक मतों के मूल तत्व में ही हमें इतना अंतर मिलता है [कि] कभी–कभी तो वैमनस्य तथा झगड़े का रूप ले लेता है। न केवल पूर्व और पश्चिम के दर्शनों में मतभेद है, बल्कि प्रत्येक गोलार्द्ध के विभिन्न मतों में आपस में अंतर है। एशियाई धर्मों में, इस्लाम तथा हिंदू धर्मों में जरा भी एकरूपता नहीं है। भारत में ही बौद्ध तथा जैन धर्म उस ब्राम्हणवाद से बहुत अलग हैं, जिसमें स्वयं आर्यसमाज व सनातन धर्म जैसे विरोधी मत पाए जाते हैं। पुराने समय का एक अन्य स्वतंत्र विचारक चार्वाक है। उसने ईश्वर को पुराने समय में ही चुनौती दी थी। यह सभी मत एक–दूसरे से मूलभूत प्रश्नों पर मतभेद रखते हैं और हर व्यक्ति अपने को सही समझता है। यही तो दुर्भाग्य की बात है। बजाय इसके कि हम पुराने विद्वानों एवं विचारकों के अनुभवों तथा विचारों को भविष्य में अज्ञानता के विरूद्ध लड़ाई का आधार बनाएं और इस रहस्यमय प्रश्न को हल करने की कोशिश करें, हम आलसियों की तरह, जो कि हम सिद्ध हो चुके हैं, विश्वास की, उनके कथन में अविचल एवं संशयहीन विश्वास की, चीख–पुकार मचाते रहते हैं और इस प्रकार मानवता के विकास को जड़ बनाने के अपराधी हैं।

प्रत्येक मनुष्य को, जो विकास के लिए खड़ा है, रूढ़िगत विश्वासों के हर पहलू की आलोचना तथा उन पर अविश्वास करना होगा और उनको चुनौती देनी होगी। प्रत्येक प्रचलित मत की हर बात को हर कोने से तर्क की कसौटी पर कसना होगा। यदि काफी तर्क के बाद भी वह किसी सिद्धांत अथवा दर्शन के प्रति प्रेरित होता है, तो उसके विश्वास का स्वागत है। उसका तर्क असत्य, भ्रमित या छलावा और कभी–कभी मिथ्या हो सकता है। लेकिन उसको सुधारा जा सकता है क्योंकि विवेक उसके जीवन का दिशासूचक है पर निरा विश्वास और अंधविश्वास खतरनाक है। यह मस्तिष्क को मूढ़ तथा मनुष्य को प्रतिक्रियावादी बना देता है। जो मनुष्य अपने यथार्थवादी होने का दावा करता है उसे समस्त प्राचीन विश्वासों को चुनौती देनी होगी। यदि वे तर्क का प्रहार न सह सके तो टुकड़े–टुकड़े होकर गिर पड़ेंगे। तब उस व्यक्ति का पहला काम होगा, तमाम पुराने विश्वासों को धराशायी करके नए दर्शन की स्थापना के लिए जगह साफ करना। यह तो नकारात्मक पक्ष हुआ। इसके बाद सही कार्य शुरू होगा, जिसमें पुनर्निर्माण के लिए पुराने विश्वासों की कुछ बातों का प्रयोग किया जा सकता है। जहां तक मेरा संबंध है, मैं प्रारंभ में ही मानता हूं कि इस

दिशा में मैं अभी कोई विशेष अध्ययन नहीं कर पाया हूं। एशियाई दर्शन को पढ़ने की मेरी बड़ी लालसा थी पर ऐसा करने का मुझे कोई संयोग या अवसर नहीं मिला। किंतु जहां तक इस विवाद के नकारात्मक पक्ष की बात है, मैं प्राचीन विश्वासों के ठोसपन पर प्रश्न उठाने के संबंध में आश्वस्त हूं। मुझे पूरा विश्वास है कि एक चेतन, परम आत्मा का, जो कि प्रकृति की गति का दिग्दर्शन एवं संचालन करती है, कोई अस्तित्व नहीं है। हम प्रकृति में विश्वास करते हैं और समस्त प्रगति का ध्येय मनुष्य द्वारा, अपनी सेवा के लिए प्रकृति पर विजय पाना है। इसको दिशा देने के लिए पीछे कोई चेतन शक्ति नहीं है। यही हमारा दर्शन है।

जहां तक नकारात्मक पहलू की बात है, हम आस्तिकों से कुछ प्रश्न करना चाहते हैं –

यदि, जैसा कि आपका विश्वास है, एक सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एवं सर्वज्ञानी ईश्वर है जिसने कि पृथ्वी या विश्व की रचना की, तो कृपा करके मुझे यह बताएं कि उसने यह रचना क्यों की? कष्टों और आफतों से भरी यह दुनिया, असंख्य दुखों के शाश्वत और अनंत गठबंधनों से ग्रसित! एक भी प्राणी पूरी तरह सुखी नहीं!

कृपया यह न कहें कि यही उसका नियम है। यदि वह किसी नियम से बंधा है तो वह सर्वशक्तिमान नहीं। फिर तो वह भी हमारी ही तरह गुलाम है। कृपा कर यह भी न कहें कि यह उसका शुगल है। नीरो ने सिर्फ एक रोम जलाकर राख किया था। उसने चंद लोगों की हत्या की थी। उसने तो बहुत थोड़ा दुख पैदा किया, अपने शौक और मनोरंजन के लिए। और उसका इतिहास में क्या स्थान है? उसे इतिहासकार किस नाम से बुलाते हैं? सभी विषैले विशेषण उस पर बरसाए जाते हैं। जालिम, निर्दयी, शैतान जैसे शब्दों से नीरो की भर्त्सना में पृष्ठ के पृष्ठ रंगे पड़े हैं। एक चंगेज खां ने अपने आनंद के लिए कुछ हजार जानें ले लीं और आज हम उसके नाम से घृणा करते हैं। तब फिर तुम उस सर्वशक्तिमान अनंत नीरो को जो हर दिन, हर घंटे और हर मिनट असंख्य दुख देता रहा है, और अभी भी दे रहा है, किस तरह न्यायोचित ठहराते हो? फिर तुम उसके उन दुष्कर्मों की हिमायत कैसे करोगे, जो हर पल चंगेज के दुष्कर्मों को भी मात दिए जा रहे हैं। मैं पूछता हूं कि उसने यह दुनिया बनाई ही क्यों थी। ऐसी दुनिया जो सचमुच का नर्क है, अनंत और गहन वेदना का घर है? सर्वशक्तिमान ने मनुष्य का सृजन क्यों किया, जबकि उसके पास मनुष्य का सृजन न

करने की ताकत थी? इन सब बातों का तुम्हारे पास क्या जवाब है? तुम यह कहोगे कि यह सब अगले जन्म में, इन निर्दोष कष्ट सहनेवालों को पुरस्कार और गलती करनेवालों को दंड देने के लिए हो रहा है। ठीक है, ठीक है। तुम कब तक उस व्यक्ति को उचित ठहराते रहोगे जो हमारे शरीर को जख्मी करने का साहस इसलिए करता है कि बाद में इस पर बहुत कोमल तथा आरामदायक मलहम लगाएगा? ग्लैडियेटर संस्था के व्यवस्थापकों तथा सहायकों का यह काम कहां तक उचित था कि एक भूखे खूंखार शेर के सामने मनुष्य को फेंक दो कि यदि वह उस जंगली जानवर से बचकर अपनी जान बचा लेता है तो उसकी खूब देखभाल की जाएगी? इसलिए मैं पूछता हूं, "उस परम चेतना और सर्वोच्च सत्ता ने इस विश्व और उसमें मनुष्यों का सृजन क्यों किया? आनंद लूटने के लिए? तब उसमें और नीरो में क्या फर्क है?"

मुसलमानों और ईसाइयों! हिंदू दर्शन के पास अभी और तर्क हो सकते हैं। मैं तुमसे पूछता हूं कि तुम्हारे पास ऊपर पूछे गए प्रश्नों का क्या उत्तर है? तुम तो पूर्वजन्म में विश्वास नहीं करते। तुम तो हिंदुओं की तरह यह तर्क पेश नहीं कर सकते कि प्रत्यक्षतः निर्दोष व्यक्तियों के कष्ट उनके पूर्वजन्मों के कुकर्मों का फल हैं। मैं तुमसे पूछता हूं कि उस सर्वशक्तिशाली ने विश्व की उत्पत्ति के लिए छह दिन मेहनत क्यों की और यह क्यों कहा था कि सब ठीक है। उसे आज ही बुलाओ, उसे पिछला इतिहास दिखाओ। उसे मौजूदा परिस्थितियों का अध्ययन करने दो। फिर हम देखेंगे कि क्या वह आज भी यह कहने का साहस करता है – सब ठीक है!

कारावास की काल–कोठरियों से लेकर, झोपड़ियों तथा बस्तियों में भूख से तड़पते लाखों–लाख इंसानों के समुदाय से लेकर, उन शोषित मजदूरों से लेकर जो पूंजीवादी पिशाच द्वारा खून चूसने की क्रिया को धैर्यपूर्वक या कहना चाहिए, निरुत्साह होकर देख रहे हैं तथा उस मानवशक्ति की बर्बादी देख रहे हैं जिसे देखकर कोई भी व्यक्ति, जिसे तनिक भी सहज ज्ञान है, भय से सिहर उठेगा और अधिक उत्पाद को जरूरतमंद लोगों में बांटने के बजाय समुद्र में फेंक देने को बेहतर समझने से लेकर राजाओं ने उन महलों तक, जिनकी नींव मानव की हड्डियों पर पड़ी है . . . उसको यह सब देखने दो और फिर कहे, 'सब कुछ ठीक है'। क्यों और किसलिए? यही मेरा प्रश्न है। तुम चुप हो? ठीक है, तो मैं अपनी बात आगे बढ़ाता हूं।

और तुम हिंदुओं, तुम कहते हो कि आज जो लोग कष्ट भोग रहे हैं, वे पूर्वजन्म के पापी हैं। ठीक है। तुम कहते हो कि आज के उत्पीड़क पिछले जन्मों में साधु पुरुष थे, अतः वे सत्ता का आनंद लूट रहे हैं। मुझे मानना पड़ता है कि आपके पूर्वज बहुत चालाक व्यक्ति थे। उन्होंने ऐसे सिद्धांत गढ़े जिनमें तर्क और अविश्वास के सभी प्रयासों को विफल करने की काफी ताकत है। लेकिन हमें यह विश्लेषण करना है कि ये बातें कहां तक टिकती हैं।

न्यायशास्त्र के सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्वानों के अनुसार, दंड को अपराधी पर पड़नेवाले असर के आधार पर, केवल तीन या चार कारणों से उचित ठहराया जा सकता है। वे हैं – प्रतिकार, भय तथा सुधार। आज सभी प्रगतिशील विचारकों द्वारा प्रतिकार के सिद्धांत की निंदा की जाती है। भयभीत करने के सिद्धांत का भी अंत वही है। केवल सुधार करने का सिद्धांत ही आवश्यक है और मानवता की प्रगति का अटूट अंग है। इसका उद्देश्य अपराधी को एक अत्यंत योग्य तथा शांतिप्रिय नागरिक के रूप में समाज को लौटाना है। किंतु यदि यह बात मान भी लें कि कुछ मनुष्यों ने (पूर्वजन्म में) पाप किए हैं तो ईश्वर द्वारा उन्हें दिए गए दंड की प्रकृति क्या है? तुम कहते हो कि वह उन्हें गाय, बिल्ली, पेड़, जड़ी–बूटी या जानवर बनाकर पैदा करता है। तुम ऐसे 84 लाख दंडों को गिनाते हो। मैं पूछता हूं कि मनुष्य पर सुधारक के रूप में इनका क्या असर है? तुम ऐसे कितने व्यक्तियों से मिले हो जो कहते हैं कि वे किसी पाप के कारण पूर्वजन्म में गदहों के रूप में पैदा हुए थे? एक भी नहीं? अपने पुराणों से उदाहरण मत दो। मेरे पास तुम्हारी पौराणिक कथाओं के लिए कोई स्थान नहीं है। और फिर, क्या तुम्हें पता है कि दुनिया में सबसे बड़ा पाप गरीब होना है? गरीबी एक अभिशाप है, यह एक दंड है। मैं पूछता हूं कि अपराध विज्ञान न्यायशास्त्र के एक ऐसे विद्वान की आप कहां तक प्रशंसा करेंगे जो किसी ऐसी दंड प्रक्रिया की व्यवस्था करे जो कि अनिवार्यतः मनुष्य को और अधिक अपराध करने को बाध्य करे? क्या तुम्हारे ईश्वर ने यह नहीं सोचा था? या उसको भी ये सारी बातें मानवता द्वारा कथनीय कष्टों को झेलने की कीमत पर अनुभव से सीखनी थीं? तुम क्या सोचते हो कि किसी गरीब तथा अनपढ़ परिवार, जैसे एक चमार या मेहतर के यहां पैदा होने पर इंसान का भाग्य क्या होगा? चूंकि वह गरीब है, इसलिए पढ़ाई नहीं कर सकता। वह अपने उन साथियों से तिरस्कृत एवं त्यक्त रहता है जो ऊंची जाति में पैदा होने के कारण अपने को उससे ऊंचा समझते हैं। उसका अज्ञान, उसकी गरीबी तथा उससे किया गया व्यवहार उसके

हृदय को समाज के प्रति निष्ठुर बना देते हैं। मान लो, यदि वह कोई पाप करता है तो उसका फल कौन भोगेगा? ईश्वर, वह स्वयं या समाज के मनीषी? और उन लोगों के दंड के बारे में तुम क्या करोगे जिन्हें दंभी एवं घमंडी ब्राम्हणों ने जानबूझकर अज्ञानी बनाए रखा तथा जिन्हें तुम्हारी ज्ञान की पवित्र पुस्तकों – वेदों के कुछ वाक्य सुन लेने के कारण कान में पिघले सीसे की धारा को सहने की सजा भुगतनी पड़ती थी? यदि वे कोई अपराध करते हैं तो उनके लिए कौन जिम्मेदार होगा और उसका प्रहार कौन सहेगा? मेरे प्रिय दोस्तों! ये सारे सिद्धांत विशेषाधिकार युक्त लोगों के आविष्कार हैं। ये अपनी हथियायी हुई शक्ति, पूंजी तथा उच्चता को इन सिद्धांतों के आधार पर सही ठहराते हैं। जी हां, शायद वह अप्टन सिंक्लेयर ही था, जिसने किसी जगह लिखा था कि मनुष्य को बस (आत्मा की) अमरता में विश्वास दिला दो और उसके बाद उसका सारा धन व संपत्ति लूट लो। वह बगैर बड़बड़ाए इस कार्य में तुम्हारी सहायता करेगा। धर्म के उपदेशकों तथा सत्ता के स्वामियों के गठबंधन से ही जेल, फांसीघर, कोड़े और ये सिद्धांत उपजते हैं।

मैं पूछता हूं कि तुम्हारा सर्वशक्तिशाली ईश्वर हर व्यक्ति को उस समय क्यों नहीं रोकता है जब वह कोई पाप या अपराध कर रहा होता है? ये तो वह बहुत आसानी से कर सकता है। उसने क्यों नहीं लड़ाकू राजाओं को या उनके अंदर लड़ने के उन्माद को समाप्त किया और इस प्रकार विश्व युद्ध द्वारा मानवता पर पड़नेवाली विपत्तियों से उसे क्यों नहीं बचाया? उसने अंग्रेजों के मस्तिष्क में भारत को मुक्त कर देने हेतु भावना क्यों नहीं पैदा की? वह क्यों नहीं पूंजीपतियों के हृदय में यह परोपकारी उत्साह भर देता कि वे उत्पादन से साधनों पर व्यक्तिगत संपत्ति का अपना अधिकार त्याग दें और इस प्रकार न केवल संपूर्ण श्रमिक समुदाय, वरन् समस्त मानव समाज को पूंजीवाद की बेड़ियों से मुक्त करें। आप समाजवाद की व्यावहारिकता पर तर्क करना चाहते हैं, मैं इसे आपके सर्वशक्तिमान पर छोड़ देता हूं कि वह इसे लागू करे। जहां तक जनसामान्य की भलाई की बात है, लोग समाजवाद के गुणों को मानते हैं पर वह इसके व्यावहारिक न होने का बहाना लेकर इसका विरोध करते हैं। चलो, आपका परमात्मा आए और वह हर चीज को सही तरीके से कर दे। अब घुमा–फिराकर तर्क करने का प्रयास न करें, वह बेकार की बातें हैं। मैं आपको यह बता दूं कि अंग्रेजों की हुकूमत यहां इसलिए नहीं है कि ईश्वर चाहता है, बल्कि इसलिए है कि उनके पास ताकत है और हममें उनका विरोध करने की

हिम्मत नहीं। वे हमें अपने प्रभुत्व में ईश्वर की सहायता से नहीं रखे हुए हैं बल्कि बंदूकों, राइफलों, बम और गोलियों, पुलिस और सेना के सहारे रखे हुए हैं। यह हमारी उदासीनता है कि वे समाज के विरूद्ध सबसे निंदनीय अपराध, एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र द्वारा अत्याचारपूर्ण शोषण सफलतापूर्वक कर रहे हैं। कहां है ईश्वर? वह क्या कर रहा है? क्या वह मनुष्य जाति के इन कष्टों का मजा ले रहा है? वह नीरो है, चंगेज है, तो उसका नाश हो।

क्या तुम मुझसे पूछते हो कि मैं विश्व की उत्पत्ति तथा मानव की उत्पत्ति की व्याख्या कैसे [कर] सकता हूं? ठीक है, मैं तुम्हें बतलाता हूं। चार्ल्स डारविन ने इस विषय पर कुछ प्रकाश डालने की कोशिश की है। उसको पढ़ो। सोहन स्वामी की 'सहज ज्ञान' पढ़ो। तुम्हें इस सवाल का कुछ सीमा तक उत्तर मिल जाएगा। यह (विश्व सृष्टि) एक प्राकृतिक घटना है। विभिन्न पदार्थों के, निहारिका के आकार में, आकस्मिक मिश्रण से पृथ्वी बनी। कब? इतिहास देखो। इसी प्रकार की घटना से जंतु पैदा हुए और एक लंबे दौर के बाद मानव। डारविन की 'जीव की उत्पत्ति' पढ़ो। और तदुपरांत सारा विकास मनुष्य द्वारा प्रकृति से लगातार संघर्ष और उस पर विजय पाने की चेष्टा से हुआ। यह इस घटना की संभवतः सबसे संक्षिप्त व्याख्या है।

तुम्हारा दूसरा तर्क यह हो सकता है कि क्यों एक बच्चा अंधा या लंगड़ा पैदा होता है, यदि यह उसके पूर्वजन्म में किए कार्यों का फल नहीं है तो? जीवविज्ञानवेत्ताओं ने इस समस्या का वैज्ञानिक समाधान निकाला है। उनके अनुसार इसका सारा दायित्व माता–पिता के कंधों पर है जो अपने उन कार्यों के प्रति लापरवाह अथवा अनभिज्ञ रहते हैं जो बच्चे के जन्म के पूर्व ही उसे विकलांग बना देते हैं।

स्वभावतः तुम एक और प्रश्न पूछ सकते हो, यद्यपि यह निरा बचकाना है। वह सवाल यह है कि यदि ईश्वर कहीं नहीं है तो लोग उसमें विश्वास क्यों करने लगे? मेरा उत्तर संक्षिप्त तथा स्पष्ट होगा – जिस प्रकार लोग भूत–प्रेतों तथा दुष्ट आत्माओं में विश्वास करने लगे, उसी प्रकार ईश्वर को मानने लगे। अंतर केवल इतना है कि ईश्वर में विश्वास विश्वव्यापी है और उसका दर्शन अत्यंत विकसित। कुछ उग्र परिवर्तनकारियों (रैडिकल्स) के विपरीत मैं इसकी उत्पत्ति का श्रेय उन शोषकों की प्रतिभा को नहीं देता जो परमात्मा के अस्तित्व का उपदेश देकर लोगों को अपने प्रभुत्व में रखना चाहते थे तथा उनसे अपनी

विशिष्ट स्थिति का अधिकार एवं अनुमोदन चाहते थे। यद्यपि मूल बिंदू पर मेरा उनसे विरोध नहीं है कि **सभी धर्म, संप्रदाय, पंथ और ऐसी अन्य संस्थाएं अंत में निर्दयी और शोषक संस्थाओं, व्यक्तियों तथा वर्गों की समर्थक हो जाती हैं। राजा के विरुद्ध विद्रोह हर धर्म में सदैव ही पाप रहा है।**

ईश्वर की उत्पत्ति के बारे में मेरा अपना विचार यह है कि मनुष्य ने अपनी सीमाओं, दुर्बलताओं व कमियों को समझने के बाद, परीक्षा की घड़ियों का बहादुरी से सामना करने, स्वयं को उत्साहित करने, सभी खतरों को मर्दानगी के साथ झेलने तथा संपन्नता एवं ऐश्वर्य में उसके विस्फोट को बांधने के लिए ईश्वर के काल्पनिक अस्तित्व की रचना की। अपने व्यक्तिगत नियमों तथा अभिभावकीय उदारता से पूर्ण ईश्वर की बढ़ा–चढ़ाकर कल्पना एवं चित्रण किया गया। जब उसकी उग्रता तथा व्यक्तिगत नियमों की चर्चा होती है तो उसका उपयोग एक डरानेवाले के रूप में किया जाता है, ताकि मनुष्य समाज के लिए एक खतरा न बन जाए। जब उसके अभिभावकीय गुणों की व्याख्या होती है तो उसका उपयोग एक पिता, माता, भाई, बहन, दोस्त तथा सहायक की तरह किया जाता है। इस प्रकार जब मनुष्य अपने सभी दोस्तों के विश्वासघात तथा उनके द्वारा त्याग देने से अत्यंत दुखी हो तो उसे इस विचार से सांत्वना मिल सकती है कि एक सदा सच्चा दोस्त उसकी सहायता करने को है, उसे सहारा देगा, जो कि सर्वशक्तिमान है और कुछ भी कर सकता है। वास्तव में आदिम काल में यह समाज के लिए उपयोगी था। विपदा में पड़े मनुष्य के लिए ईश्वर की कल्पना सहायक होती है।

समाज को इस ईश्वरीय विश्वास के विरुद्ध उसी तरह लड़ना होगा जैसे कि मूर्ति–पूजा तथा धर्म–संबंधी क्षुद्र विचारों के विरुद्ध लड़ना पड़ा था। इसी प्रकार मनुष्य जब अपने पैरों पर खड़ा होने का प्रयास करने लगे तथा यथार्थवादी बन जाए तो उसे ईश्वरीय श्रद्धा को एक ओर फेंक देना चाहिए और उन सभी कष्टों, परेशानियों का पौरुष के साथ सामना करना चाहिए जिनमें परिस्थितियां उसे पटक सकती हैं। मेरी स्थिति आज यही है। यह मेरा अहंकार नहीं है। मेरे दोस्तों! यह मेरे सोचने का ही तरीका है जिसने मुझे नास्तिक बनाया है। मैं नहीं जानता कि ईश्वर में विश्वास और रोज–बरोज की प्रार्थना – जिसे मैं मनुष्य का सबसे अधिक स्वार्थी और गिरा हुआ काम मानता हूं – मेरे लिए सहायक सिद्ध होगी या मेरी स्थिति को और चौपट कर देगी। मैंने

उन नास्तिकों के बारे में पढ़ा है, जिन्होंने सभी विपदाओं का बहादुरी से सामना किया, अतः मैं भी एक मर्द की तरह फांसी के फंदे की अंतिम घड़ी तक सिर ऊंचा किए खड़ा रहना चाहता हूं।

देखना है कि मैं इस पर कितना खरा उतर पाता हूं। मेरे एक दोस्त ने मुझे प्रार्थना करने को कहा। जब मैंने उसे अपने नास्तिक होने की बात बतलाई तो उसने कहा, "देख लेना, अपने अंतिम दिनों में तुम ईश्वर को मानने लगोगे।" मैंने कहा, "नहीं, प्रिय महोदय, ऐसा नहीं होगा। ऐसा करना मेरे लिए अपमानजनक तथा पराजय की बात होगी। स्वार्थ के लिए मैं प्रार्थना नहीं करूंगा।" पाठकों, मेरे दोस्तों, क्या यह अहंकार है? अगर है, तो मैं इसे स्वीकार करता हूं।■

अनुवाद : शिव वर्मा

"... भगतसिंह भारत के राजनीतिक क्षितिज पर अल्पांश के लिए एक उल्का पिंड की तरह चमके और लुप्त होने से पहले वह लाखों लोगों के लिए एक नए भारत की आत्मा और आशाओं का प्रतीक बन गए, उन लोगों के लिए, जिन्हें मृत्यु का डर नहीं था, जो साम्राज्यवादी जुए को उतार फेंकने और अपने महान देश में एक स्वतंत्र राज्य का भवन खड़ा करने के लिए कृतसंकल्प थे।"

— अजय कुमार घोष,
पूर्व महासचिव, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी,
'भगतसिंह और उनके साथी' से उद्धरित[7]

---

[7]स्रोत : 'शहीदेआज़म की जेल नोटबुक' में एल. वी. मित्रोखिन का आलेख, संपादन – सत्यम वर्मा, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, अप्रैल 1999, पृ. 34–35

"... भगतसिंह ने अपने अंतिम दिनों में, सुव्यवस्थित एवं गहन अध्ययन के बाद बुद्धिसंगत ढंग से मार्क्सवाद को अपना मार्गदर्शक सिद्धांत बनाया था। एकबारगी तो यह बात अविश्वसनीय-सी लगती है कि क्रांतिकारी जीवन और जेल की बीहड़ कठिनाईयों में भगतसिंह ने ब्रिटिश सेंसरशिप की तमाम दिक्कतों के बावजूद पुस्तकें जुटाकर इतना गहन और व्यापक अध्ययन कर डाला। महज 23 वर्ष की छोटी सी उम्र में चिंतन का जो धरातल उन्होंने हासिल कर लिया था, वह उनके युगद्रष्टा युगपुरुष होने का प्रमाण था। ऐसे महान चिंतक ही इतिहास की दिशा बदलने और गति तेज करने का माद्दा रखते हैं। भगतसिंह की शहादत भारतीय जनता को आज भी क्षितिज पर अनवरत जलती मशाल की तरह प्रेरणा देती है, पर यह भी सच है कि उनकी फांसी ने इतिहास की दिशा बदल दी। यह सोचना गलत नहीं है कि भगतसिंह को 23 वर्ष की अल्पायु में यदि फांसी नहीं हुई होती तो राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का इतिहास और भारतीय सर्वहारा क्रांति का इतिहास शायद कुछ और ही ढंग से लिखा जाता।"

"... दुखद विडंबना यह भी है कि आज भी इस देश के शिक्षित लोगों का एक बड़ा हिस्सा भगतसिंह को एक महान वीर तो मानता है, पर यह नहीं जानता कि 23 वर्ष का वह युवा एक महान चिंतक भी था। राजनीतिक आजादी मिलने के पचास वर्षों बाद भी संपूर्ण गांधी वाङमय, नेहरु वाङमय से लेकर सभी राष्ट्रपतियों के अनुष्ठानिक भाषणों के विशद्ग्रंथ तक प्रकाशित होते रहे पर किसी भी सरकार ने भगतसिंह और उनके साथियों के सभी दस्तावेजों को अभिलेखागार, पत्र-पत्रिकाओं और व्यक्तिगत संग्रहों से निकालकर छापने की सुध नहीं ली।"

– आलोक रंजन
'शहीदेआज़म की जेल नोटबुक'
संपादनः सत्यम वर्मा, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, अप्रैल 1999, पृ. 12–13

खंड - तीन

1. भगतसिंह–आजाद और उनके साथियों का वैचारिक विकास

– प्रो. बिपन चंद्र

एवं

2. भारतीय क्रांतिकारी चिंतन का प्रतीक : भगतसिंह

– प्रो. चमन लाल

प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. बिपन चंद्र के इस आलेख को यहां पेश करने के तीन कारणों का जिक्र करना मौजूं होगा। एक स्तर पर ये तीनों कारण अलग–अलग भी दिखते हैं। लेकिन भारत की जनता के सामने जो संकट दुनिया की नवउदारवादी पूंजी और बाजार ने खड़ा किया है उससे जूझने के लिए उन्हें आपस में जोड़ने से एक अंतर्दृष्टि भी मिलती है। पहला, यह आलेख एक बारी फिर यह स्थापित करता है कि किसी भी राजनीतिक दल का गठन या उसकी विचारधारा का बनना कोई महज संयोग नहीं वरन् उस समय के ऐतिहासिक हालात और प्रक्रियाओं का परिणाम है। यह आलेख 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' (एचएसआरए) के गठन को गांधीजी के द्वारा दिए गए असहयोग आंदोलन के आह्वान (1921) से उपजे उत्साह और उसको वापिस लेने से बने राजनीतिक शून्य व क्रांतिकारी युवाओं में उभरे गहरे क्षोभ जैसी ऐतिहासिक घटनाओं से जोड़ता है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यह आलेख सन् 1917 की रूसी बोल्शेविक क्रांति और उसके जरिए खड़े किए जा रहे समाजवादी 'राज्य' से भारतीय क्रांतिकारी विचारधारा को मिले नए दर्शन व प्रेरणा का भी बखूबी जिक्र करता है। इस दौर में भगतसिंह व उनके साथियों ने भारतीय बुर्जुआ वर्ग के सहयोग से गांधी जी के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा और उसके साथ सच्ची आजादी के मायने पर जो बहस चलाई उसका ब्यौरा भी आलेख में है। इस बहस में क्रांतिकारियों के द्वारा उठाया गया हर सवाल आज वैश्वीकरण और नवउदारवाद से जूझ रही भारतीय राजनीति के लिए महत्वपूर्ण है।

आलेख का दूसरा महत्व। भगतसिंह और उनके साथियों ने आजादी की लड़ाई को समाजवादी बदलाव की लड़ाई से जोड़कर एक नई दिशा दी थी। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन पर भारतीय पूंजीपति वर्ग के प्रभाव के चलते इसे ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीय शासकों को सत्ता हस्तांतरण की लड़ाई में सीमित कर दिया गया था। क्रांतिकारियों की शहादत के बावजूद आजादी की इस संकुचित अवधारणा की जनमानस पर पकड़ क्यों बनी रही, इसका विश्लेषण आलेख करता है। इस तरह क्रांतिकारियों को राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक का दर्जा तो दिया गया लेकिन उनकी समाजवादी बदलाव की क्रांतिकारी

विचारधारा को दरकिनार करके। इसीलिए आज देश के लगभग सभी राजनीतिक दल व राजनेता, चंद्रशेखर आजाद, भगतसिंह, राजगुरू और सुखदेव को देवता की तरह पूजने के सभी रस्मो–रिवाज तो पूरा करते हैं लेकिन उनके समाजवादी दर्शन एवं पूंजीवाद व साम्राज्यवाद के खिलाफ दिए गए आह्वान से खौफ खाते हैं। केवल यही नहीं, इस रस्मो–रिवाज के चलते आज की नवउदारवादी ताकतों और उनके हित में काम कर रहे भारतीय शासक वर्ग के लिए जरूरी हो गया है कि भगतसिंह और उनके साथियों के द्वारा लिखे गए विस्तृत निबंधों, पत्रों और अन्य दस्तावेजों को मीडिया, स्कूल व कालेज की शिक्षा व्यवस्था एवं राजनीतिक बहस में शामिल नहीं होने दिया जाए।

यह आलेख अपने अंतिम हिस्से में पड़ताल करता है कि किन कारणों से हर त्याग और बलिदान के लिए तैयार ये क्रांतिकारी उस दौर में अपनी विचारधारा से उन तबकों – युवाओं, मजदूरों, किसानों और बुद्धिजीवियों – को जोड़ नहीं पाए, जिन्हें वे क्रांतिकारी बदलाव का सामाजिक आधार मानते थे। इतिहासकार की इस पड़ताल से आज लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, समतामूलक, न्यायशील व प्रबुद्ध भारत बनाने में जुटी हुई सभी प्रगतिशील ताकतों के लिए सोचने व सीखने की नई खिड़कियां खुलती हैं। लेकिन हमारे लिए महत्व की बात यह है कि सारी उम्मीदें केवल एचएसआरए जैसे छोटे से नवोदित राजनीतिक समूह से ही क्यों की जाएं। क्या हमारी कोई भी अपेक्षाएं राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा और उसके नेतृत्व से नहीं होनी चाहिए जिसने क्रांतिकारी समाजवादी बदलाव के सोच को आजादी की लड़ाई का हिस्सा ही नहीं बनने दिया और जिसने आखिरकार सत्ता हस्तांतरण में अगुवाई भी की। इस मुख्यधारा के अलावा उन राजनीतिक धाराओं ने भी पूंजीपति वर्ग के साथ समझौते कर लिए जो धार्मिक कट्टरवाद के नाम पर समाज व देश को तोड़ने की राजनीति का निर्माण कर रहे थे और आज भी कर रहे हैं। हम यह भी न भूलें कि इस मुख्यधारा के कंधों पर सवार होकर आजादी के बाद भारतीय पूंजीपति वर्ग ने बॉम्बे प्लान (1945) के जरिए अपने स्वार्थ में मिश्रित अर्थव्यवस्था के पूंजीवादी विकास मॉडल को स्थापित करवाया। इसी शोषणकारी मॉडल ने मुट्ठीभर पूंजीपतियों के हाथ में केंद्रित हो रही संपदा के आम जनता तक

रिसन का मिथक भी गढ़ा। इसी तर्ज पर आगे बढ़कर आज वही पूंजीपति वर्ग नवउदारवादी पूंजी और वैश्विक बाजार के साथ मिलकर जनता के जल–जंगल–जमीन–जीविका और ज्ञान के तमाम संसाधनों को लूट रहा है।

शायद प्रो. बिपन चंद्र का यह आलेख तीन दशक पहले लिखा गया था। आज हम अपनी ओर से इसके अंत में यह जोड़ने की जरूरत महसूस कर रहे हैं कि भगतसिंह और उनके साथियों ने उस हर तरह से प्रतिकूल ऐतिहासिक दौर में जो रणनीति तय की थी उसे हम याद रखें। चाहे उनके द्वारा दिल्ली असेंबली में बिना किसी को कोई भी चोट पहुंचाए बम और परचे फेंकने का फैसला हो, चाहे जेल में लंबे उपवास का हो या फिर दुश्मन के तंत्र यानी कोर्ट में खड़े होकर आजादी की अपनी विचारधारा को जनता तक पहुंचाने का हो, वे अपने तयशुदा मकसद को पूरा करने में सफल हुए। इसीलिए कैसा भारत बनाना चाहिए, इस सवाल पर उनके द्वारा पेश किए गए विचार बढ़ते क्रम में आज के संकटकाल में और अधिक प्रासंगिक होते जा रहे हैं। आखिरकार, प्रो. बिपन चंद्र खुद स्वीकारते हैं कि इन क्रांतिकारी युवाओं ने क्रांति को पिस्तौल व बम के चंगुल से मुक्त करते हुए स्थापित कर दिया कि **"विचारों की सिल्ली पर ही क्रांति की तलवार में धार चढ़ती है"**। बेशक, भगतसिंह का आलोचनात्मक वैज्ञानिक समाजवादी नजरिए से किया गया विशद् लेखन आज इतिहासकारों व बुद्धिजीवियों के लिए लगातार गहरे शोध का विषय बना हुआ है। इस सच्चाई का पुस्तिका में बानगी बतौर शामिल किए गए भगतसिंह के 'कौम के नाम संदेश', 'अछूत का सवाल' और 'मैं नास्तिक क्यों हूं?' नामक तीनों आलेखों से बेहतर और क्या सबूत हो सकता है।

इस खंड के अंत में हमने प्रो. चमन लाल की पुस्तक 'भगतसिंह के संपूर्ण दस्तावेज' में उनके द्वारा लिखी हुई भूमिका के एक हिस्से को उद्धरित किया है (इस भूमिका का शुरूआती हिस्सा पुस्तिका के खंड एक में दिया जा चुका है)। भगतसिंह और उनके साथियों के आंदोलन को उसके ऐतिहासिक संदर्भ में समझने और उससे आज सबक लेने के लिए अलग–अलग दृष्टिकोण हो सकते हैं। प्रो. बिपन चंद्र ने इसका एक परिप्रेक्ष्य

पेश किया है। प्रो. चमन लाल का यह आलेख उन्हीं तथ्यों और हालात को देखने का एक अलग नजरिया देता है। यही इसको यहां शामिल करने का महत्व है।

भगतसिंह ने अपने भाई कुलतार सिंह को फांसी लगने से 20 दिन पहले यानी 3 मार्च 1931 को पत्र में जो लिखा, उसे यहां याद कर लेना सटीक होगा --

उसे यह फ़िक्र है हरदम
नया तर्ज़े–जफ़ा क्या है,
हमें यह शौक़ है देखें
सितम की इंतहा क्या है।

दहर से क्यों खफ़ा रहें,
चर्ख़ का क्यों गिला करें,
सारा जहां अदू (दुश्मन) सही,
आओ मुकाबला करें।

कोई दम का मेहमां हूं
ऐ अहले–महफ़िल,
चराग़े–सहर हूं बुझा चाहता हूं।

हवा में रहेगी मेरे ख्याल की बिजली,
ये मुश्ते–ख़ाक है फ़ानी,
रहे रहे न रहे।

– 'भगत सिंह के संपूर्ण दस्तावेज'
सं. – चमन लाल, 2005, पृ. 238

भगतसिंह–आजाद और उनके साथियों का वैचारिक विकास[8]

– प्रो. बिपन चंद्र

भगतसिंह–आजाद और उनके साथियों के बारे में अभी कुछ दिनों पहले तक आम धारणा यह रही है कि ये मुट्ठीभर युवा अंधदेशभक्त थे और एक अमूर्त राष्ट्रवादी भावना को अपने दिलों में संजोए हुए कोई भी बलिदान करने को तत्पर रहते थे। उनकी कोई सामाजिक विचारधारा नहीं थी और न ही उनका कोई सुविचारित कार्यक्रम था जिसके अनुसार वे या उनके अनुयायी कार्य करते। परचों, वक्तव्यों, लेखों आदि के माध्यम से इन लोगों ने अपने बारे में इन भ्रमों के निवारण का प्रयत्न किया। हाल के वर्षों में उनके अनेकों सहयोगियों ने अपनी आत्मकथाएं भी लिखी और अब पुरानी धारणाओं के बने रहने का कोई औचित्य नहीं है।

तीसरे दशक का क्रांतिकारी[9] आंदोलन नई परिस्थितियों का परिणाम था। बंगाल, महाराष्ट्र तथा यूरोप के क्रांतिकारी आंदोलन की पृष्ठभूमि में उपजे इस आंदोलन को विरासत के रूप में मिला हार्डिंग बम कांड, गदर आंदोलन, मैनपुरी षड़यंत्र व प्रथम लाहौर षड़यंत्र कांड के साथ–साथ प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान रास बिहारी बोस व शचींद्रनाथ सान्याल जैसे क्रांतिकारियों के कार्य। लेकिन इसे संजीवनी शक्ति मिली असहयोग आंदोलन और भारतीय राजनीति पर पड़े उसके अमिट प्रभाव से। एक वर्ष के अंदर स्वराज प्राप्ति के गांधी के सब्जबाग ने अप्रत्याशित रूप से सारे भारत को झकझोरकर रख दिया। क्रांतिकारी आंदोलन के लगभग सभी महत्वपूर्ण सदस्य यथा जोगेशचंद्र चटर्जी, चंद्रशेखर आजाद, भगतसिंह, सुखदेव, जतीन दास, भगवतीचरण वोहरा, यशपाल, शिव वर्मा, डॉ. गयाप्रसाद तथा जयदेव कपूर भारतीय जनता के उफान, उत्साह व आकांक्षाओं के सहयात्री सहयोगी थे। लेकिन असहयोग आंदोलन की असफलता ने सारी उम्मीदों पर तुषारापात कर

---

[8] स्रोत : 'संचेतना', रामदत्तपुर, गोरखपुर – 273 001, 1980 के दशक का पूर्वाद्ध।

[9] मूल आलेख में यहां पर प्रो. बिपन चंद्र ने 'भगतसिंह और उनके साथियों के आंदोलन का 'क्रांतिकारी आंतकवादी आंदोलन' के रूप में जिक्र किया है लेकिन उसी आलेख में अन्यत्र 'क्रांतिकारी आंदोलन' भी कहा है। तीस साल पहले लिखे इस आलेख के बाद की बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति में 'आतंकवाद' शब्द के मायने बिल्कुल बदल गए हैं। इसके मद्देनज़र हम यहां केवल 'क्रांतिकारी आंदोलन' का इस्तेमाल कर रहे हैं।

दिया। जिस तरीके से यह आंदोलन वापस लिया गया उससे उन सारे लोगों के मन में अपार क्षोभ भर गया जिन्होंने गांधी के आह्वान पर स्कूल, कालेज यहां तक कि अपने घर तक छोड़ दिए थे। यह क्षोभ तब अपनी चरम सीमा पर जा पहुंचा जब आंदोलन के दौरान बलवती हुई हिंदू–मुस्लिम एकता का स्थान सांप्रदायिक तनाव, घृणा व दंगों ने ले लिया। चौरीचौरा कांड में इन आदर्शवादी युवकों को कुछ भी गलत नज़र नहीं आया और न ही राजनीतिक नैतिकता के ऐसे विचार उन्हें प्रभावित कर पाए जो एक शक्तिशाली जनआंदोलन को एक झटके में समाप्त कर दें। राष्ट्रीय नेतृत्व द्वारा सुझाए गए दो रास्ते – स्वराजियों की संसदीय राजनीति या अपरिवर्तनवादियों का तथाकथित रचनात्मक कार्यक्रम – भी इन युवकों को आकर्षित नहीं कर पाया। व्याप्त कुंठा व नैराश्य पर जितना भी इन युवकों ने विचार किया, उन्हें सारा दोष गांधी की राजनीतिक विचारधारा से ओतप्रोत प्रभावशाली राष्ट्रीय नेतृत्व की मूल रणनीति में नज़र आया। गांधीवाद को नकारने के बाद विकल्प की खोज ने उन्हें एक तरफ तो समाजवाद की ओर तथा दूसरी तरफ क्रांतिकारी आंदोलन की ओर प्रेरित किया। 15 वर्ष पूर्व के रूसी क्रांतिकारी नवयुवकों की तरह उन्होंने दोनों रास्ते अंगीकार किए। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मजदूर वर्ग के एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में उदय का भी क्रांतिकारी आंदोलन पर, अस्पष्ट ही सही, प्रभाव पड़ा। आंदोलन के अग्रणी नेताओं ने इस नए वर्ग की क्रांतिकारी क्षमता का इस्तेमाल राष्ट्रीय क्रांति में करना चाहा। 1928 की देशव्यापी हड़ताल से मजदूर वर्ग का प्रभाव सर्वत्र महसूस किया जाने लगा।

इन युवा क्रांतिकारियों पर रूसी क्रांति तथा भारी बाह्य एवं आंतरिक खतरों के बावजूद नवजात समाजवादी 'राज्य' की प्रगति का भी व्यापक प्रभाव पड़ा। 1924 से ही इनमें रूसी क्रांति व साम्यवाद पर बहसें प्रारंभ हो गईं और मार्क्सवाद साहित्य व समाजवाद का विशद् अध्ययन होने लगा। लाहौर में रूसी पुस्तकें आसानी से सुलभ थीं और लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित द्वारकादास पुस्तकालय इसका प्रमुख केंद्र बन गया। इन सबका प्रभाव शीघ्र स्पष्ट होने लगा। भगतसिंह और सुखदेव ने सोवियत संघ को अपने आदर्शों के सर्वथा निकट 'राज्य' माना। क्रांतिकारी आंदोलन के एक हिस्से 'नौजवान भारत सभा' ने सोवियत संघ में बड़ी दिलचस्पी ली। अगस्त 1928 में कांग्रेस के प्रगतिशील तत्वों के साथ 'रूस के मित्र' सप्ताह मनाया तथा बाद में एक सभा कर रूसी क्रांति की प्रशंसा की। जेलों में बंद क्रांतिकारियों ने

भी इसी तरह का प्रचार कार्य किया। 24 जनवरी 1930 को लाहौर षड़यंत्र केस के अभियुक्तों ने अदालत में ही लेनिन दिवस मनाया और अपनी शुभकामनाएं मास्को भेजीं। 1930 में क्रांति की वर्षगांठ पर भी उन्होंने अपनी शुभकामनाएं भेजीं।

क्रांतिकारियों के सोवियत संपर्क का एक महत्वपूर्ण पहलू रूस से आर्थिक एवं अन्य तरह की मदद लेना तथा क्रांतिकारी प्रक्रिया की पद्धति व संगठन आदि के बारे में प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए भारतीयों को वहां भेजना था। 1926 में काकोरी षड़यंत्र केस में गिरफ्तारी के पूर्व हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन (एचआरए) के अशफ़ाकुल्लाह रूस जाने की योजना बना रहे थे। 1928 में नव–स्थापित हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (एचएसआरए), द्वारा विजय कुमार सिन्हा सोवियत संघ जाने के लिए अधिकृत किए गए। बाद में चंद्रशेखर आजाद ने यशपाल व सुरेंद्र पांडे को सोवियत संघ भेजने का असफल प्रयास किया था। रूसी क्रांति ने क्रांतिकारियों में न केवल समाजवादी विचारधारा के प्रसार में बल्कि उन्हें विशुद्ध आतंकवादी रास्ता अपनाने से विमुख करने में भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इन युवा क्रांतिकारियों ने देशभर में उभरते जा रहे छोटे–छोटे साम्यवादी गुटों से निकट संपर्क स्थापित किया। 1928 से 1930 तक इन साम्यवादी गुटों व क्रांतिकारियों ने नौजवान भारत सभा में साथ मिलकर कार्य किया। धीरे–धीरे नैराश्य व जड़ता की स्थिति समाप्त होने लगी। 1924 में हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का गठन हुआ जिसका नेतृत्व पुराने क्रांतिकारियों शचींद्र नाथ सान्याल, जोगेश चंद्र चटर्जी व रामप्रसाद बिस्मिल के हाथ में था तथा 1928 में हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (एचएसआरए) का गठन हुआ जिसमें नेतृत्व नवयुवकों यथा भगतसिंह, आजाद, सुखदेव, शिव वर्मा आदि के हाथ में आ गया, [जो] इन्हीं बदली हुई स्थितियों के प्रमाण थे। एचआरए ने एक ऐसा क्रांतिकारी कार्यक्रम अपनाया था जिसमें उन्नत क्रांतिकारी समाजवादी विचार तथा क्रांतिकारी पद्धति का समन्वय था। एचएसआरए के नवीन नेतृत्व ने आंदोलन के लक्ष्य में 'समाजवाद' शब्द जोड़ा। इनके विचार निरंतर विकसित होते जा रहे थे। इस संगठन की सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि प्रत्येक सदस्य नए–नए विचारों पर चिंतन मनन करते थे और उन्हें पूरी जिम्मेदारी के साथ स्वीकार करते थे। उदाहरणार्थ, चंद्रशेखर आजाद एक सैनिक नेता मात्र ही नहीं थे। अंग्रेजी में लिखी पुस्तकों को

वे दूसरों से पढ़वाते और [तब तक] उसकी व्याख्या करवाते थे जब तक कि वह उन्हें स्वयं ठीक से समझ न लें। विचारों के क्षेत्र के हर परिवर्तन का वह गहराई से अध्ययन करते थे और उन्हें पूर्ण बहस–मुबाहसे के बाद ही अपनी स्वीकृति देते थे। 'बम का दर्शन' (फ़िलॉसफी ऑफ बॉम्ब) का मसविदा आजाद के कहने पर और उनके साथ पूरी बहस के बाद भगवतीचरण वोहरा ने लिखा था।

क्रांतिकारियों का सबसे बड़ा कार्य अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों को परिभाषित कर उन्हें विकसित करना था। वैचारिक स्तर पर इन लोगों ने जिन प्रश्नों का उत्तर देना चाहा वे थे – विदेशियों के विरुद्ध संघर्ष का लक्ष्य क्या है? समाज और राजनीति में किस प्रकार का परिवर्तन अपेक्षित है? वर्तमान व्यवस्था का स्थान किस तरह की सामाजिक व्यवस्था और राज्य सरंचना लेगी? **इन लोगों ने एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था की परिकल्पना की जो क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों के नेतृत्व में शोषित व दबे कुचले लोगों [के] जनांदोलन के विकसित और संगठित होने से अस्तित्व में आएगी।**

क्रांतिकारियों का सर्वप्रमुख कार्य भारत को विदेशी शिकंजे से मुक्त करना और भारतीय समाज को क्रांति द्वारा बदलना था। क्रांति के प्रति उनकी प्रतिबद्धता संपूर्ण थी। क्रांति को उन्होंने न तो ऐतिहासिक संयोग और न ही भारत की विशेष स्थिति की आवश्यकता माना। भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने अपने एक वक्तव्य में इसे मानव जाति का अनुलंघनीय अधिकार तथा मानवतावादी सिद्धांतों का मूर्तरूप मानते हुए कहा कि यदि मानव समाज को जड़ या पतनोन्मुख नहीं होना है तो क्रांति की निरंतरता बनी रहनी चाहिए। मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों के विपरीत क्रांतिकारियों को हिंसा या अराजकता से भय नहीं लगता था। एचएसआरए के घोषणापत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया कि बिना विनाश के पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। क्रांति और हिंसा की ये धारणाएं पूर्ववर्ती क्रांतिकारियों की विरासत थीं। **भगतसिंह और उनके साथियों ने क्रांति को पिस्तौल व बम के चंगुल से मुक्त किया। इन चीजों का महत्व इतना ही था कि आवश्यकता पड़ने पर ये साधन के रूप में इस्तेमाल की जा सकती थीं।** सशस्त्र विद्रोह व क्रांति के अंतर को इन लोगों ने स्पष्ट किया। क्रांति एक राजनीतिक कृत्य ही नहीं, इसका सामाजिक उद्देश्य भी था। यह उद्देश्य था समाज का पुनर्निमाण करना और अन्याय पर आधारित समाज व्यवस्था को बदलना।

क्रांति बेहतर जिंदगी की आकांक्षा, भावना थी। भगवतीचरण वोहरा के मत से क्रांति का तात्पर्य था सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक स्वतंत्रता। 6 जून 1929 को अपने एक संयुक्त वक्तव्य में भगतसिंह व बटुकेश्वर दत्त ने कहा था कि क्रांति से हम लोगों का तात्पर्य अंतिम रूप से एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना है जिसमें सर्वहारा की संप्रभुता स्वीकार की जाएगी और जिसके द्वारा एक विश्वसंघ मानवता को पूंजीवादी शिकंजे और साम्राज्यवादी युद्धों के संकट से मुक्त करेगा। इन सबसे स्पष्ट है कि क्रांतिकारी पूर्ण राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य नहीं मानते थे। राष्ट्रीय स्वाधीनता को वे एक नई समाज व्यवस्था की स्थापना का साधन मात्र मानते थे। एचआरए [की] 1925 की अधिघोषणा में कहा गया कि इसका लक्ष्य उन सभी व्यवस्थाओं का अंत करना है जिनके द्वारा मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण संभव हो पाता है। दिसंबर 1928 में सांडर्स की हत्या के बाद लाहौर में लगाए गए पोस्टरों और 7 अप्रैल 1929 को केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में फेंके गए लाल परचों में भी यही बात कही गई।

एचआरए का एचएसआरए में परिवर्तन भी यकायक नहीं हुआ था। अस्पष्ट तरीके से एचआरए भी समाजवाद की ओर कदम बढ़ा रही थी। अक्टूबर 1924 में अपनी एक बैठक में उसने सामाजिक क्रांति व साम्यवादी सिद्धांतों का प्रचार करने का निश्चय किया था। उसके एक प्रकाशन 'क्रांतिकारी' ('दी रिवोल्यूशनरी') ने प्रस्ताव किया था कि रेलवे, इस्पात व जहाजरानी निर्माण जैसे बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाना चाहिए एवं अन्य निजी व लघु उद्योगों के प्रबंध के लिए सहकारी संघों को संगठित किया जाना चाहिए। धीरे–धीरे समाजवाद का प्रभाव कांतिकारियों के बीच में बढ़ता गया और न केवल नए लोग बल्कि पुराने क्रांतिकारी भी इससे प्रभावित दिखने लगे। सर्वाधिक बौद्धिक विकास तो भगतसिंह के व्यक्तित्व में हुआ। 1931 में लाहौर षड़यंत्र केस में उनके सह–अभियुक्त जे. एन. सान्याल ने उनके बारे में लिखा कि भगतसिंह बेहद पढ़े–लिखे व्यक्ति थे और उनके अध्ययन का विशेष क्षेत्र समाजवाद था। उनके बारे में आमतौर पर यह विश्वास किया जाता है कि समाजवाद में उनकी जानकारी की तुलना भारत में बहुत कम लोगों से की जा सकती है। बोल्शेविक शासन के अधीन रूस में किए गए आर्थिक प्रयोगों में उन्हें बेहद दिलचस्पी थी।

भगतसिंह की समाजवादी विचारधारा जेल में काफी विकसित हुई और वास्तव में जेल को उन्होंने एक छोटे–मोटे विश्वविद्यालय में परिवर्तित

कर दिया था। जेल में उन्होंने बहुत सी पुस्तकें लिखीं, जिनमें मुख्य चार हैं – 'आत्मकथा', 'मृत्यु का दरवाजा', 'समाजवाद का आदर्श' तथा 'भारत का क्रांतिकारी आंदोलन'। दुर्भाग्यवश इन सभी पुस्तकों की पांडुलिपियां लुप्त हो चुकी हैं। भगतसिंह यह भलीभांति जानते थे [कि] समाजवाद जैसी वैज्ञानिक विचारधारा क्रांति में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती थी इसलिए उन्होंने और उनके साथियों ने समाजवाद के बारे में दल के सदस्यों को सक्रिय रूप से शिक्षित किया। भगतसिंह कहा करते थे कि **विचारों की सिल्ली (धार चढ़ानेवाला पत्थर) पर ही क्रांति की तलवार में धार चढ़ती है।** जेल में उन्होंने गांधीजी को 'एक सहृदय उदारमना' व्यक्ति कहा था लेकिन साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर दिया था कि इस समय उदारता, विश्वबंधुत्व की नहीं, एक गतिशील वैज्ञानिक सामाजिक शक्ति की आवश्यकता है।

एचएसआरए के नेतृत्व ने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि समाजवाद एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज है और एक व्यवस्था के रूप में यह पूंजीवाद का प्रतिवाद है। इस कारण से समाजवादी व्यवस्था की प्रथम उपलब्धि होगी पूंजीवाद की समाप्ति। समाज के अब तक शोषित वर्गों, मजदूरों व किसानों की मुक्ति तथा अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीति में उनके हितों की सर्वोपरिता पर ही यह समाजवाद आधारित होगा। एचएसआरए के नेतृत्व ने यह भी प्रश्न भी उठाया कि राज्यसत्ता पर किसका नियंत्रण है। इन लोगों ने बताया कि समाजवादी राज्य संरचना में सारी शक्तियां मजदूरों व किसानों के हाथों में केंद्रित रहती हैं। 'बम का दर्शन' ने स्पष्ट कहा कि क्रांति से सर्वहारा की तानाशाही का उदय होगा जो समाज के परजीवियों को सदैव के लिए राजनीतिक शक्ति से वंचित कर देगा। भगतसिंह और उसके साथियों ने अपने ऊपर चले मुकदमों के दौरान बार–बार यह बताने का प्रयत्न किया कि उनके द्वारा प्रतिपादित क्रांति का सिद्धांत मेहनतकश जनता के अस्तित्व के प्रश्न से जुड़ा हुआ है।

क्रांतिकारियों की बढ़ती हुई समाजवादी चेतना ने पूंजीवाद और आधुनिक साम्राज्यवाद, पूंजीवादी आर्थिक शोषण व राष्ट्रों की गुलामी के बीच गहरे संबंधों को स्पष्ट कर दिया। उनकी साम्राज्यवाद व विदेशी शासन के बारे में समझदारी भावुक राष्ट्रवाद से काफी आगे बढ़ी हुई थी। भारत में विदेशी शासन को एक वर्गीय शासन, विदेशी पूंजी के शासन के रूप में देखा गया। क्रांतिकारियों ने भारतीय पूंजीपतियों और

जमींदारों की भी विदेशी पूंजी के शासन के समकक्ष मानकर कटु आलोचना की और स्पष्ट रूप से घोषणा की कि भारतीय पूंजीपतियों और जमींदारों का अंत क्रांति के लिए उतना ही महत्वपूर्ण और मौलिक प्रश्न है जितना विदेशी पूंजी के शासन का अंत। **मार्च 1931 में अपनी एक अपील में भगतसिंह ने कहा कि "भारत में संघर्ष तब तक जारी रहेगा जब तक मुट्ठी भर शोषक अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सामान्य जनता का शोषण करते रहेंगे। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि ये शोषक विशुद्ध ब्रिटिश पूंजीपति हैं या विशुद्ध भारतीय या दोनों की साझेदारी से उपजे पूंजीपति।"** इन सबसे क्रांतिकारियों की समाज के वर्गीय स्वरूप की अवधारणा, समाजवाद की प्रतिबद्धता, साम्राज्यवाद–विरोधी भावना तथा मेहनतकश जनता की प्रमुख भूमिका की मान्यता आदि का सम्यक ज्ञान होता है।

व्यावहारिक क्रांतिकारियों की तरह संगठन ने यह प्रश्न भी हल किया कि आखिरकार क्रांति कौन करेगा या क्रांतिकारी आंदोलन का सामाजिक आधार क्या होगा। इस संबंध में नेतृत्व का रुख बिल्कुल स्पष्ट था – क्रांतिकारी आंदोलन के आधार होंगे सामान्य जन, किसान व मजदूर, युवा वर्ग तथा प्रगतिशील बुद्धिजीवी तबका। नौजवान भारत सभा के घोषणा पत्र (1928) ने भी जनता द्वारा व जनता के लिए क्रांति का उद्‌घोष किया। लेकिन यह सब कुछ केवल सिद्धांत रूप में ही स्वीकार किया गया। वास्तव में व्यावहारिक तौरपर सामान्य जन को संगठित करने या उनके बीच प्रारंभिक राजनीतिक कर्म बिल्कुल नहीं किया गया। यद्यपि 1928 में भारतीय नौजवान सभा ने कुछ कृषक आंदोलनों में हिस्सा लिया था और किसानों को संगठित होने का आह्वान करते हुए कुछ परचे बांटे थे तथापि व्यावहारिक तौर पर सभा के सभी कार्य शहरों तथा मध्यम एवं निम्न मध्यम वर्ग तक ही सीमित थे। वास्तव में यह संगठन उन सभी वर्गों से पूर्णतया कटा हुआ था जिनको अपने क्रांतिकारी कार्यक्रम में उसने आंदोलन का सामाजिक आधार माना था। उसकी सबसे बड़ी व महत्वपूर्ण कमजोरियों में से यह एक थी।

वास्तविकता यह थी कि एचएसआरए की मुख्य अपील प्रगतिशील राष्ट्रवादी युवा वर्ग की ही ओर केंद्रित थीं। सिद्धांततः युवकों को दो मुख्य भूमिकाएं अदा करनी थीं – उन्हें ही किसानों, मजदूरों के बीच क्रांतिकारी समाजवादी संदेश को ले जाना था और साथ ही साथ क्रांति

के लिए सीधी लड़ाई भी करनी थी। इस प्रकार व्यवहार में नेतृत्व ने राजनीतिक कार्य का सारा दायित्व युवकों पर डाल दिया – युवा वर्ग ही क्रांति का हिरावल दस्ता होगा। युवकों के ऊपर इस निर्भरता का प्रमुख कारण यह मानना था कि क्रांतिकारियों की वर्तमान पीढ़ी का कार्य क्रांति करना नहीं बल्कि जनता को क्रांति के लिए तैयार करना था। क्रांति तभी की जा सकती थी जब समाजवाद व क्रांति की विचारधाराएं सर्वत्र लोकप्रिय हो जाएं। एक अन्य प्रमुख कारण यह भी था कि क्रांतिकारियों के मत से प्रचार का सबसे महत्वपूर्ण तरीका स्वयं को जोखिम में डालकर कोई बड़ा कार्य करना था। यह कार्य केवल युवा वर्ग ही कर सकता था जिसमें बुद्धि, साहस व बलिदान की भावना थी और पारिवारिक चिंताएं व जिम्मेदारियां नाममात्र की थीं। निम्न मध्यमवर्गीय युवकों ने यह जिम्मेदारी संभाली लेकिन उनकी क्रांतिकारी चेतना विशुद्ध राष्ट्रवादी थी। इन युवाओं का इस्तेमाल मुख्यतः राष्ट्रवादी कार्यों के लिए किया जा सकता था। इस प्रकार नेतृत्व तीव्र अंतर्विरोधों से ग्रस्त था। सिद्धांततः वे समाजवाद के [लिए] प्रतिबद्ध थे लेकिन व्यवहार में वे राष्ट्रवाद से ऊपर नहीं उठ सके।

क्रांतिकारी राजनीतिक रूप से उड़ान भरने में सफल नहीं हो सके। अपने पहले ही कदम पर उन्हें रुक जाना पड़ा। किसी विचारधारा या राजनीतिक व्यक्तित्वविहीन व्यक्ति के रूप में तो उन्हें भरपूर लोकप्रियता मिली लेकिन अपने दल के लिए आम जनता का समर्थन नहीं जुटा सके। भयंकर गरीबी ने निरंतर इन लोगों का मार्ग अवरूद्ध किया। सरकार के खिलाफ कोई क्रांतिकारी कार्य करने या कोई सशस्त्र कार्यवाही करने में भी ये लोग सफल नहीं हो सके। यही कारण है कि उनके कुछ व्यक्तिगत रूप से सफल राजनीतिक या आंदोलनकारी कृत्य भी अलग–थलग पड़े रहे और जनता को उद्वेलित करने में इस्तेमाल नहीं किए जा सके। जन संपर्क के तरीकों और साधनों को भी ये लोग नहीं खोज सके। परिणामस्वरूप सरकारी कार्रवाइयों से इनकी संख्या घटने लगी और ये लोग उस कमी को भी पूरा नहीं कर पाए। दल के भीतर ही विभिन्न मसलों पर संघर्ष होने लगा और अंत में दल को भंग ही कर देना पड़ा। ये लोग छोटे–छोटे गुटों में बंटकर धीरे–धीरे समाप्त होने लगे। दल को बचाने और सरकार के खिलाफ कार्रवाई की चंद्रशेखर आजाद की सारी कोशिशें व्यर्थ साबित हुईं। फरवरी 1931 में उनकी मृत्यु के बाद उत्तरी भारत में क्रांतिकारी आंदोलन समाप्त हो गया। अपने राजनीतिक लक्ष्यों में भी

असफलता हाथ लगी। 1929 से 1931 तक अपनी समस्त लोकप्रियता के बावजूद ये लोग गांधीवादी नेतृत्व का विकल्प नही खोज सके। इनके प्रशंसकों का एक बड़ा हिस्सा समाजवादी विचारधारा के प्रति उनकी प्रतिबद्धता के बारे में अनभिज्ञ रहा। सरकार का इनके सभी लेखों पर प्रतिबंध आंशिक रूप से इसके लिए जिम्मेदार रहा। पंजाब को छोड़कर अन्य किसी स्थान पर समाजवादी विचारकों के रूप में जनता इन्हें जान ही नहीं पाई। बाद के वर्षों में कुछ अज्ञात कारणों से समाजवादी व साम्यवादी दलों ने क्रांतिकारी समाजवादी चेतना के प्रसार में उनके विचारों व बलिदानों से कोई लाभ नहीं उठाया।

क्रांतिकारियों का फौरी लक्ष्य देश में क्रांतिकारी चेतना का प्रसार करना था। फांसी पर चढ़ने के ठीक पहले भगतसिंह ने शिव वर्मा से कहा था कि "क्रांतिकारी दल में शामिल होते समय मैं सोचता था कि यदि देश के कोने–कोने में मैं 'इंकलाब जिंदाबाद' का नारा पहुंचा दूं तो मुझे अपनी जिंदगी की कीमत मिल जाएगी . . . मैं नहीं सोचता कि किसी का जीवन इससे अधिक अर्थपूर्ण हो सकता है।" इसमें कोई संदेह नहीं कि भगतसिंह की यह महत्वाकांक्षा पूरी हो गई लेकिन यह नहीं माना जा सकता कि क्रांतिकारियों के समस्त कार्यों और इंकलाब जिंदाबाद के नारे के सर्वत्र स्वीकृति के बाद भी राष्ट्रवादी चेतना को कोई क्रांतिकारी मोड़ दिया जा सका। यह नारा स्वाधीनता प्राप्ति की राष्ट्रवादी आकांक्षा का प्रतीक बनकर रह गया।

क्रांतिकारियों को साम्राज्यवाद–विरोधी चेतना जागृति करने में महान सफलता मिली। अपने आप में यह कोई कम महत्वपूर्ण बात नहीं थी लेकिन उनकी सफलता का सारा फायदा उस पारंपरिक कांग्रेसी नेतृत्व को मिला जिसकी बुर्जुवा मध्मवर्गीय कहकर इन लोगों ने निंदा की थी और जिसका विकल्प तैयार करने में [ये] लोग प्रयत्नशील थे। इससे एक अजीब आत्मविरोधात्मक ऐतिहासिक स्थिति उत्पन्न हुई। क्रांतिकारियों का 90 प्रतिशत हिस्सा बाद में मार्क्सवाद व साम्यवाद के प्रति समर्पित हुआ लेकिन उन्हीं के युवावस्था के कार्य व नारे गांधीवादी नेतृत्व के वामपंथी कांग्रेसियों की विरासत बन गए।

क्रांतिकारी न केवल सिद्धांत और व्यवहार की दूरी को समाप्त नहीं कर सके बल्कि सिद्धांत व कार्यक्रम के स्तर पर राष्ट्रवाद व [समाजवाद] का समन्वय भी नहीं कर सके। अपने कार्यक्रमों में उन्होंने एक ही साथ राष्ट्रवादी व समाजवादी क्रांति संपन्न करने की आशा की थी। चूंकि ऐतिहासिक स्थितियां इस समन्वय के विपरीत थीं इसलिए व्यवहार में

इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाजवादी व राष्ट्रवादी चेतना को दो अलग–अलग हिस्सों में रखा जाए। इसका परिणाम यह हुआ कि या तो समाजवादी चेतना राष्ट्रवादी चेतना के अधीन हो गई या उससे अलग हो गई। इस अंतर्विरोध ने एक दूसरा रूप भी धारण किया। एक तरफ तो नेतृत्व के समाजवादी विचार निरंतर विकसित होते जा रहे थे, दूसरी तरफ इसके साधारण सदस्य व प्रशंसक सिद्धांत से विमुख रहकर विशुद्ध क्रांतिकारी राष्ट्रवादी चेतना के धरातल पर कार्य करते रहे। नेतृत्व ने तत्कालीन स्थिति में परिवर्तन का कोई प्रयास नहीं किया और अपने कार्यों को एक जन संगठन के साथ मिलाकर छोटे स्तर पर ही सही सशस्त्र जन–विद्रोह के प्रयास नहीं किए। इसने सरकारी अधिकारियों व सरकार में कोई भेद नहीं किया। दूसरी तरफ बुर्जुवा राष्ट्रवादी नेतृत्व साम्राज्यवाद–विरोधी लड़ाई में अक्रांतिकारी तरीकों से लड़ता हुआ भी अपनी जीवंतता बनाए हुआ था। अपनी शहादत से अपने सिद्धांतों के प्रसार का तरीका भी उस समय सफल नहीं हो पाया क्योंकि कोई ऐसी मशीनरी नहीं थी जो लोगों को यह बताती कि ये युवा क्यों अपने प्राण न्यौछावर कर रहे हैं। भगतसिंह और आजाद ने अपने अंतिम दिनों में एक व्यापक जनाधार व जनसंगठन की आवश्यकता महसूस की। इन लोगों ने महसूस किया कि क्रांतिकारी आंदोलन का तरीका असफल रहा और केवल एक वृहत्तर जनांदोलन ही क्रांति का मार्ग प्रशस्त कर सकता था।

अंत में कहा जा सकता है कि [ये] क्रांतिकारी समाज, राज्य, राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद व क्रांति के मूल तत्वों की समाजवादी समझदारी विकसित करने में सफल हुए। इससे ज्यादा समझदारी क्रांतिकारी सिद्धांतों को कार्य रूप में परिणित करके ही अर्जित की जा सकती थी। क्रांतिकारी राजनीतिक कर्म संगठन व राजनीतिक दल की कार्य प्रक्रिया से वंचित रहने के बावजूद विपरीत परिस्थितियों में भी इन लोगों ने क्रांतिकारी चेतना को जिंदा रखा।■

भारतीय क्रांतिकारी चिंतन का प्रतीक : भगतसिंह[10]

— प्रो. चमन लाल

प्रो. चमन लाल की निम्नांकित पुस्तक के पृ. 21 से . . .

भगतसिंह के क्रांतिकारी जीवन व्यवहार को देखें तो स्पष्ट होता है कि जीवन के अंतिम दो अढ़ाई वर्षों में उन्होंने जितने भी 'ऐक्शन' उन्होंने किए, सोच–समझकर किए और उनमें सोची–समझी सुनियोजित सफलता भी प्राप्त की। ये ऐक्शन हैं – सांडर्स की हत्या, केंद्रीय असेंबली में बम फेंकना और गिरफ्तारी देना, जेल में भूख हड़ताल का हथियार व अदालतों को राजनीतिक प्रचार का मंच बनाकर ब्रिटिश उपनिवेशवाद के क्रूर चेहरे के वास्तविक रूप को उघाड़ना। इसके साथ ही भगतसिंह ने फांसी के रूप में अपनी मृत्यु को भी एक सुनियोजित राजनीतिक ऐक्शन के रूप में चुना था, जिससे पूरे देश में एक सजग राजनीतिक आंदोलन विकसित होने की अपेक्षा थी। कमाल की बात यह थी कि भगतसिंह ने इन सभी ऐक्शनों में पहले से सोची–समझी योजना के तहत अपेक्षित सफलता हासिल की और ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने अपनी यंत्रणादायक मशीन के पूरी क्रूरता के साथ इस्तेमाल के बावजूद भगतसिंह के इरादों को सफल बनाने में ही अपनी कठपुतलीनपमा भूमिका निभाई। यह पहली बार था कि किसी क्रांतिकारी मस्तिष्क ने एक उपनिवेशवादी यंत्र को अपनी योजना के तहत चलने पर मजबूर किया।

भगतसिंह को रंचमात्र भी भ्रम नहीं था कि दस–बीस क्रांतिकारी युवकों का उनका गुट, जिसकी देश के सभी प्रांतों में शाखा तक नहीं थी और जिनके जनसंगठन 'नौजवान भारत सभा' व 'पंजाब छात्र यूनियन' पंजाब तक ही सीमित थे, जिनका नाम जरूर देश भर में प्यार और सम्मान के साथ लिया जाता था, लेकिन जिनके क्रांतिकारी परिवर्तन की विशेष समझ जनसाधारण को नहीं थी, महात्मा गांधी या कांग्रेस पार्टी का बदल बन सकता था। लेकिन भगतसिंह को यह समझ जरूर थी कि गदर पार्टी और कर्तार सिंह सराभा आदि ने क्रांतिकारी आंदोलन को जहां लाकर छोड़ा था, उसे आगे बढ़ाने लिए कुर्बानियां

---

[10] स्रोत : 'भगतसिंह के संपूर्ण दस्तावेज', संपादन : चमन लाल, आधार प्रकाशन प्रा. लि., पंचकूला (हरियाणा), दूसरा संस्करण 2005, पृ. 21–31. आलेख के शेष हिस्से के उद्धरण।

देनी होंगी और क्रांतिकारी प्रचार के लिए जमीन तैयार कर व्यापक स्तर पर क्रांतिकारी विचारों व कार्यक्रम का प्रचार इस ढंग से करना होगा कि भारत का जनसाधारण, मजदूर और किसान उसे अपने लिए जरूरी समझ सके और उसके लिए लड़ने को तैयार हो सके।

अपने इस 'ऐक्शन' द्वारा भगतसिंह ने इस वृहत् प्रचार कार्य को ही अंजाम दिया और इसको नैतिक बल दिया, स्वयं को कुर्बानी के लिए प्रस्तुत करके। सांडर्स की हत्या में शामिल होने के बाद खुद को असेंबली बम कांड में गिरफ्तारी के लिए पेश करने का मतलब ही सचेत रूप में मृत्यु का वरण था, जिसे उन्होंने क्रांतिकारी दल के पूरे विरोध के बावजूद अपनी तर्कशक्ति के बल पर उन्हें मनाकर अंजाम दिया।

अब भगतसिंह द्वारा सुनियोजित 'ऐक्शन' का परिणाम देखें – सांडर्स की हत्या से पूरे देश में जो सनसनी फैली और क्रांतिकारी देशभक्तों का नाम भारत के बच्चे–बच्चे की जुबान पर जिस तरह से आया, यह भगतसिंह की योजना की सबसे बड़ी सफलता थी। चूंकि यह 'ऐक्शन' किया ही लाला लाजपतराय की हत्या के लिए 'राष्ट्रीय अपमान' के बदले के प्रतीक रूप में था, इसलिए भगतसिंह को यह दुविधा नहीं हुई कि इस योजना में स्काट की बजाय सांडर्स मारा गया। भगतसिंह न स्काट को मारना चाहते थे न ही सांडर्स को, लेकिन लालाजी पर लाठीचार्ज में स्काट व सांडर्स दोनों की ही सक्रिय भूमिका थी। इसलिए प्रतीक रूप में सांडर्स के मारे जाने से भी 'ऐक्शन' के उद्देश्य यानी पूरे देश में 'भारतीय आत्म–सम्मान या स्वाभिमान' के उद्घोष के पूरे होने में कोई बाधा नहीं आई।

केंद्रीय असेंबली में बम फेंककर इसी वृहत् प्रचार कार्य को जन–जन तक और गहरे में ले जाने का भगतसिंह का सजग और सचेत निश्चय था। 'पब्लिक सेफ्टीबिल' और 'ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल' जैसे मजदूर और जनविरोधी बिलों के विरोध में, फ्रांसीसी क्रांतिकारी द्वारा फ्रांस की असेंबली में बम फेंककर 'बहरों को सुनाने के लिए धमाकों की जरूरत है' का उद्घोष किया था, उसी के आधार पर भगतसिंह व दत्त ने भारत की केंद्रीय असेंबली में बम फेंककर उसी उद्घोष को और ऊंचे राजनीतिक स्तर पर स्थापित किया। वास्तव में असेंबली में बम कांड में भगतसिंह को अपने राजनीतिक उद्देश्यों की सफलता में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई, जो कि निम्नानुसार है –

1. इस बम कांड से भगतसिंह ने भारतीय जनता को दो जबर्दस्त नारे प्रदान किए – 'इंकलाब जिंदाबाद' व 'साम्राज्यवाद मुर्दाबाद' – जो उसके बाद भारत के क्रांतिकारी आंदोलन का अभिन्न अंग बन गए और जिसके क्रांतिकारी उद्‌घोष में सशक्त भावनाएं उत्तेजित करने की जबर्दस्त शक्ति है।
2. इस बम कांड से भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन को विश्व क्रांतिकारी आंदोलन से जोड़ दिया, फ्रांसीसी क्रांतिकारी वालेयां के क्रांतिकारी उद्‌घोष को भारत में दोहराकर भगतसिंह ने स्थापित किया कि विश्व के तमाम क्रांतिकारी एक तरफ हैं और तमाम प्रतिक्रियावादी एक तरफ।
3. इस बम कांड ने क्रांतिकारी आंदोलन को एक स्पष्ट वर्ग दिशा दी। यह बम मजदूर वर्ग को कुचलने के विरोध में फेंककर क्रांतिकारी आंदोलन के वर्गीय आधार और वर्गीय दृष्टि को प्रमुखता प्रदान की गई।
4. इस बम कांड ने भारत के कांग्रेस आदि जन–आंदोलनों के वामपक्षी हिस्सों को भी इन क्रांतिकारी युवकों के आदर्शों के प्रति आकर्षित किया।

ब्रिटिश सरकार इन 'ऐक्शन्स' को दबाने के लिए जितना अधिक दमन करती थी, जन–साधारण में ब्रिटिश शासन के प्रति उतना ही आक्रोश और घृणा बढ़ती थी और वे इन क्रांतिकारियों का अधिक सम्मान करते थे।

जेल में 'भूख हड़ताल' के हथियार का भी भगतसिंह व उनके साथियों ने राजनीतिक स्तर पर इस्तेमाल किया। उनकी राजनीतिक बंदियों के दर्जे की मांग एक तार्किक मांग थी, जिसे ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन अपने सत्ता अहम व दमनकारी व्यवहार के कारण कुचल रहा था। ये क्रांतिकारी तो सचेत रूप से मृत्यु का वरण करके जेल प्रवास में थे। ब्रिटिश उपनिवेशवाद का अहम तो यतींद्रनाथ दास के 13 सितंबर 1929 को हुए बलिदान ने तोड़ा ही, पूरे देश के लाखों लोगों को इन देशभक्त युवकों के समर्थन में सड़कों पर लाकर, इन युवकों के क्रांतिकारी आंदोलन को एकबारगी तो कांग्रेस से भी अधिक व्यापक जनसमर्थन का झकझोरनेवाला तथ्य ब्रिटिश शासकों के सामने रख दिया। यतींद्रनाथ दास की शहादत के बाद सड़कों पर उमड़े जनसमूहों ने शायद कांग्रेस नेतृत्व की भी नींद हराम कर दी होगी।

भगतसिंह ने अदालतों में क्रांतिकारियों द्वारा कानूनी लड़ाई के दांवपेंच का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, वह तो शायद पूरी दुनिया में बेजोड़ है। भगतसिंह को रंचमात्र भी आशा नहीं थी कि ब्रिटिश शासन की अदालतों में उनके साथ न्याय हो सकेगा या उनकी प्राण रक्षा हो सकेगी। अपने प्राण तो उन्होंने 8 अप्रैल 1929 को सोच–समझकर दांव पर लगा ही दिए थे। उनका एकमात्र लक्ष्य यही था कि जीवन के बाकी बचे दिनों में वे ब्रिटिश उपनिवेशवाद को और कितनी चोट पहुंचा सकते हैं। भगतसिंह ने पूरी दुनिया के सामने ब्रिटेन की तथाकथित न्याय प्रणाली को अपनी रोज की ताजगी भरी गतिविधियों से इतना हास्यास्पद बनाकर रख दिया और उसके क्रूरता भरे आंतरिक पक्ष को इस बुरी तरह से नंगा कर दिया कि पूरी दुनिया के सामने यह वास्तविकता उघाड़कर रख दी कि ब्रिटेन एक शोषक दमनकारी उपनिवेशवादी शासन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपने जिन उपनिवेशों में उसने असेंबली, अदालतों जैसे ढकोसले स्थापित किए हैं, वे सिवाय जनता के दमन व शोषण के यंत्र के अलावा और कुछ नहीं हैं।

जो ब्रिटिश उपनिवेशवाद अपने कब्जे के उपनिवेशों में कर रहा था, वही जार्ज बुश आज तथाकथित 'लोकतंत्र रक्षक' का नकाब पहनकर अपने नंगे साम्राज्यवादी मनसूबे के तहत इराक में कर रहा है। अपने देश सहित पूरी दुनिया के लोकमत को ठेंगे पर रखकर जो नंगा हमला उसने और ब्रिटेन (अपनी उपनिवेशवादी पृष्ठभूमि की याद ताजा करते हुए) ने इराक पर किया है, उससे भगतसिंह के चिंतन व कर्म की सच्चाई एक बार फिर पूरी ताकत के साथ सामने आई है।

. . . भगतसिंह द्वारा हंसकर नारे लगाते हुए फांसी पर चढ़ना भी भगतसिंह की योजना का ही चरम पहलू था। अपनी प्रचार योजना में भगतसिंह को अपने हर 'ऐक्शन' में अपेक्षित या शायद अपेक्षा से भी अधिक सफलता मिली। भगतसिंह को यह पूरी तरह साफ था कि उसकी फांसी उसकी सुनियोजित प्रचार कार्यक्रम का चरम रूप है। इससे न सिर्फ देश के कोने–कोने में क्रांतिकारी आंदोलन और उसके लक्ष्यों की गूंज पहुंच जाएगी, वरन् खुद कांग्रेस पार्टी के भीतर इससे एक राजनीतिक मंथन शुरू हो सकेगा और वामपंथी पक्ष को ताकत मिलेगी। इसीलिए भगतसिंह किसी भी तरह से अपनी फांसी को टलवाना नहीं चाहते थे। इसीलिए अपने परिवार की उन्हें बचाने की कोशिशें उन्हें बहुत पीड़ा पहुंचाती थीं और वे अंग्रेज शासकों को चोट

पहुंचानेवाले ऐसे पत्र लिखते थे जो कि उन्हें जल्द फांसी दें ताकि अंग्रेज शासकों को उन्हें मृत्युदंड देने का पूरा राजनीतिक मूल्य चुकाना पड़े और राजनीति शास्त्र का साधारण विद्यार्थी भी यह समझ सकता है कि भगतसिंह ने अपने प्राणों की अंग्रेजों से कितनी जबर्दस्त कीमत ली थी। वास्तव में भगतसिंह ने अपने बहुत छोटे से क्रांतिकारी गुट के साथ विश्व की उस समय की महानतम शक्ति (जैसी आज अमेरिका है) को अपनी गतिविधियों द्वारा लगभग अपनी शर्तों पर कठपुतली की तरह नचाया। इस महाशक्ति के पास इन युवकों को यंत्रणा द्वारा दमन करने का एकमात्र हथियार बचा था। इस हथियार को भगतसिंह ने स्वयं अपने प्राण उत्सर्ग करने का सचेत निर्णय लेकर भोथरा कर दिया और इन युवकों के नैतिक बल के सामने दुनिया की यह महाशक्ति एक हास्यास्पद दमनयंत्र बनकर रह गई।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद जैसी महाशक्ति को इस हद तक हास्यास्पद बनाने में भगतसिंह की उस निरंतर साफ होती जा रही जीवन दृष्टि की भी भूमिका थी, जिसे भगतसिंह ने जेल प्रवास के दो वर्षों में अभूतपूर्व लगन के साथ फिर अध्ययन और मनन से पूरी स्पष्टता से हासिल कर लिया था और इस दृष्टि का सर्वश्रेष्ठ रूप 23 मार्च को ही स्पष्ट हुआ, जब फांसी पर चढ़ने जाते समय भगतसिंह लेनिन संबंधी किताब पढ़ रहे थे और बड़े गहरे संतोष के साथ, फांसी के लिए चलते समय उन्होंने कहा था कि, "एक क्रांतिकारी दूसरे क्रांतिकारी से मिलने जा रहा है।" जाहिर है कि भौतिकवादी दार्शनिक आधार को जेल प्रवास में भगतसिंह ने द्वंद्वात्मक भौतिक व राजनीतिक चिंतन के विकास के साथ ग्रहण कर लिया था।

. . . जाहिर है कि भगतसिंह का अध्ययन तीन स्तरों का है – दार्शनिक, सैद्धांतिक, सृजनात्मक, साहित्यिक व भारतीय राजनीति। तीनों ही स्तरों पर उन्होंने अब तक के विश्व ज्ञान का श्रेष्ठतम इन दो वर्षों में पढ़ा व इस पर मनन किया। उन्हें जेल में किताबें पहुंचाने में लाहौर की द्वारकादास लाइब्रेरी का भारी योगदान रहा, जिसके लाइब्रेरियन राजाराम शास्त्री भगतसिंह के निकट मित्र भी थे, भगवानदास माहौर ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि भगतसिंह ने उन्हें एक बार मार्क्स की कैपिटल पढ़ने को दी जिसे वे बिल्कुल भी नहीं समझ पाए, राजाराम शास्त्री का भी यही मानना है कि भगतसिंह चिंतन के स्तर पर मार्क्सवादी विचारधारा को अपना चुके थे।

. . . ब्रिटिश उपनिवेशवाद के कांग्रेस पार्टी के साथ समझौते द्वारा सत्ता हस्तांतरण ही सर्वश्रेष्ठ विकल्प था, क्योंकि इससे उसके आर्थिक हित, उसका शोषणतंत्र, यहां तक कि उपनिवेशवाद द्वारा स्थापित भारतीय राज व्यवस्था भी पूरी तरह सुरक्षित बची रह सकती थी। भगतसिंह इसे जानते थे और इसे अपने लेखन में स्पष्टत: व्यक्त भी कर चुके थे, अत: कांग्रेस का दायां बाजू भी अंग्रेजों की तरह भगतसिंह को राजनीतिक मंच से विदा होता हुआ ही देखना चाहता था। इसीलिए महात्मा गांधी ने लार्ड इरविन के साथ समझौता वार्ता में यदि भगतसिंह, राजगुरु व सुखदेव की फांसी का मुद्दा नहीं बनाया तो यह दोनों ही पक्षों यानी भगतसिंह के क्रांतिकारी दल और कांग्रेस पार्टी व बिट्रिश उपनिवेशवाद को पूरी तरह स्पष्ट था। यह वर्ग संघर्ष का प्रश्न था, न महज देशभक्तों की फांसी रोकने का।

. . . भगतसिंह व उनके चिंतन के संबंध में पंजाब में व शायद कुछ अन्य स्थानों पर भी काफी भ्रामक बातें फैलाई गईं। भगतसिंह के जीवन व कार्यकलापों पर बनी आठ फिल्मों द्वारा भी भगतसिंह की छवि काफी विकृत की गई। पंजाब में खालिस्तानी आंदोलन के दिनों के बाद में भी कुछ धार्मिक अंधविश्वासियों द्वारा भगतसिंह को शहादत के निचले स्तर का शहीद बताकर या अपने नास्तिक विश्वासों को छोड़कर धर्म में पुन: आस्थावान होने संबंधी बातें बहुत ओछे स्तर पर कही गई हैं। ऐसे दुष्प्रचार या कुप्रचार का जवाब तो भगतसिंह का अपना लेखन ही है, लेकिन भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के भगतसिंह के परवर्ती विकास में क्रांतिकारी आंदोलन द्वारा ही भगतसिंह की सैद्धांतिक विरासत को आगे न बढ़ाना, इस आंदोलन के कार्यकर्ताओं में भगतसिंह जैसी अध्ययन, मनन, चिंतन व लेखन की लगन का न होना, भगतसिंह के नाम या चित्र को बुर्जुवा पार्टियों की तरह ही एक रस्मी दिन की तरह मनाना, इसमें भले ही थोड़ा क्रांतिकारी छौंक लगा दिया जाता हो, यह स्थिति अधिक चिंताजनक व विचारणीय है। भगतसिंह का कहना था कि "क्रांति की तलवार विचारों की सान पर तेज होती है," किंतु भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन में विचारों की सान ही भोथरी पड़ी है, वह क्रांति की तलवार को कहां तेज करेगी।

पूरे विश्व में साम्राज्यवाद के बढ़ते आक्रामक रुख, तथाकथित वैश्वीकरण व उदार अर्थतंत्र के दबाव में जनतांत्रिकीकरण की सारी प्रक्रियाओं का नाश, भगतसिंह के जीवनकाल से भी अधिक जटिल स्थिति का परिचायक है। भारत व विश्व की तीसरी दुनिया के अनेक

देश ब्रिटिश उपनिवेशवाद से कहीं अधिक जटिल व भयंकर औपनिवेशीकरण के जाल में फंस चुके हैं, जहां उनके शासक अपने हैं, लेकिन हैं अमरीकी साम्राज्यवाद या नवउपनिवेशवाद की यंत्रचालित कठपुतलियां। भगतसिंह के लिए काले या गोरे शासकों–शोषकों में कोई भेद नहीं था, इसीलिए उनका क्रांतिकारी आंदोलन 'कालों' के शोषण के प्रतिरोध के लिए भी उतना ही कटिबद्ध था जितना तथाकथित 'गोरों' के लिए। इस नवउपनिवेशवादी दौर में भगतसिंह जैसे 'क्रांतिकारी राष्ट्रीय प्रतीकों' की बेहद जरूरत है, क्योंकि किसी भी देश के लोग पहले अपनी राष्ट्रीय परंपराओं से चेतना ग्रहण करते हैं, फिर अतंर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों से जुड़ते हैं। आज इस बात की बेहद जरूरत है कि 23 मार्च या 28 सितंबर को भगतसिंह दिवस को रस्मी दिवस की बजाय चिंतन की दिशा में बढ़ाया जाए – . . . भगतसिंह को तो 23 मार्च 1931 को फांसी का रस्सा गले में डालते समय भारत में इंकलाब होने की पूरी आशा थी और उनके मन में पूरी आस्था भी थी, जिसके कारण उनकी आवाज में 'इंकलाब जिंदाबाद' और 'साम्राज्यवाद मुर्दाबाद' का नारा लगाते समय पूरा दमखम था।■

लाहौर दशहरा बम कांड (25.10.1926) के संबंध में 25.05.1927 से 04.07.1927 तक गिरपतार 20–वर्षीय भगतसिंह की लाहौर रेलवे पुलिस थाने मे सीआईडी के डीएसपी गोपाल सिंह पन्नू के साथ गोपनीय तौरपर ली गई तस्वीर

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है,
देखना है जोर कितना बाजु–ए–कातिल में है।

एक से करता नहीं क्यों दूसरा कुछ बातचीत,
देखता हूं मैं जिसे वो चुप तेरी महफ़िल में है।
रहबरे–राहे–मोहब्बत रह न जाना राह में
लज्जते–सेहरा–नवर्दी दूरि–ए मंजिल में है।

यूं खड़ा मकतल में कातिल कह रहा है बार–बार
क्या तमन्ना–ए–शहादत भी किसी के दिल में है?
ऐ शहीदे–मुल्को–मिल्लत मैं तेरे ऊपर निसार
अब तेरी हिम्मत का चर्चा ग़ैर की महफ़िल में है।

वक्त आने दे बता देंगे तुझे ऐ आसमां,
हलम अभी से क्या बताएं क्या हमारे दिल में है।
खींचकर लाई है सबको कत्ल होने की उम्मीद,
आशिकों का आज जमघट कूंच–ए–कातिल में है।

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है,
देखना है जोर कितना बाजु–ए–कातिल में है।

– रामप्रसाद बिस्मिल

''प्रत्येक मनुष्य को, जो विकास के लिए खड़ा है, रूढ़िगत विश्वासों के हर पहलू की आलोचना तथा उन पर अविश्वास करना होगा और उनको चुनौती देनी होगी। प्रत्येक प्रचलित मत की हर बात को हर कोने से तर्क की कसौटी पर कसना होगा। यदि काफी तर्क के बाद भी वह किसी सिद्धांत अथवा दर्शन के प्रति प्रेरित होता है, तो उसके विश्वास का स्वागत है। उसका तर्क असत्य, भ्रमित या छलावा और कभी–कभी मिथ्या हो सकता है। लेकिन उसको सुधारा जा सकता है क्योंकि विवेक उसके जीवन का दिशासूचक है पर निरा विश्वास और अंधविश्वास खतरनाक है। यह मस्तिष्क को मूढ़ तथा मनुष्य को प्रतिक्रियावादी बना देता है। जो मनुष्य अपने यथार्थवादी होने का दावा करता है उसे समस्त प्राचीन विश्वासों को चुनौती देनी होगी। यदि वे तर्क का प्रहार न सह सके तो टुकड़े–टुकड़े होकर गिर पड़ेंगे। तब उस व्यक्ति का पहला काम होगा, तमाम पुराने विश्वासों को धराशायी करके नए दर्शन की स्थापना के लिए जगह साफ करना। यह तो नकारात्मक पक्ष हुआ। इसके बाद सही कार्य शुरू होगा, जिसमें पुनर्निर्माण के लिए पुराने विश्वासों की कुछ बातों का प्रयोग किया जा सकता है।''

— भगतसिंह

('मैं नास्तिक क्यों हूं ?', अक्तूबर 1930)

सहयोग राशि – ₹ 20/-